❀ ओ३म् तत्सत् ❀

सहज मार्ग

SAHAJ MARGA

वर्ष २ अङ्क २

Year 2 Number 2

श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर, उ० प्र०
(भारत वर्ष)

Shri Ram Chandra Mission
Shahjahanpur, U. P. (India)

सम्पादक मंडल

काशीराम अग्रवाल, तिनसुकिया (आसाम)
सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव, लखीमपुर-खीरी (उ० प्र०)

वार्षिक मूल्य)] [एक अंक का १)

प्रकाशक—श्री रामचन्द्र मिशन पब्लिकेशन डिपार्टमेन्ट, शाहजहाँपुर
उत्तर प्रदेश (इन्डिया)

विषय सूचीः—

विषय	लेखक	पृष्ठ संख्या
१–प्रार्थना		१
२–श्रद्धाञ्जलि		२
३–सम्पादकीय		३
४–तर्जे गुफ्तगू	समर्थ गुरु श्री रामचन्द्र जी, फ़तेहगढ़	७
५–हमारी मंजिल	श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन	६
६—भजन	मीरा बाई	१२
७—अनन्त यात्रा		१३
८—चलता फिरता शव	कुमारी केसर चतुर्वेदी एम० ए० एल० टी०	१८
९—मगल प्रभात (कविता)	श्री सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव एम० ए०	
१०–सहज-मार्ग की सहज साधना	श्री विष्णु सहाय श्रीवास्तव एम० ए०	
११–अहङ्कार (कहानी)	श्रीजगदीशप्रसादअग्रवाल, तिनसुकिया (आसाम)	२६
१२–माँझी से-(कविता)	परिव्राजक विष्णु जो विष्णु स्वामी	२८
१३–रात उजाली दिन अँधेरा	काशीराम अग्रवाल तिनसुकिया (आसाम)	२९
१४–पहेली (कविता)	कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी	३२
१५–स्तोत्र	श्री शकराचार्य	३२
16–Effective way to realization	Shri Ram Chandra Ji president S.R.C. Mission	33
17–Prayer, a boon to humanity	Shri Raghavendra Rao, Gulbarga (Mysore)	37
18–Sahaj Marga in outline,	Issued by Publications Department S.R.C. Mission	39
19–Function of the Guru	Shri A. Balasubramaniam, Tirupati (Andhra)	47
20–The Mahabharata	Shri R.B, Lal, Ex P.V.C. Hindu University (Varanasi)	51
21–Experiences of an Abhyasi	an Abhyasi	54
22–Love, the only ladder to the Lord	Swami Vivekanand.	60
२३–वज्रपात		61

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

सहज-मार्ग

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

(उठो ! जागो ! गुरुजनों को प्राप्त कर ज्ञान-लाभ करो !)

वर्ष २] आषाढ़ सम्वत् २०१५ वि० (जून १९५८ ई०) [अङ्क २

॥ प्रार्थना ॥

हे नाथ, तू ही मनुष्य--जीवन का ध्येय है ।
हमारी इच्छाएँ हमारी उन्नति में बाधक हैं ।
तू ही हमारा एक मात्र स्वामी और इष्ट है ।
बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है ।

(श्री रामचन्द्र मिशन की दैनिक प्रार्थना)

श्रद्धाञ्जलि

गत १८ मई सन् १९५८ ई० को हमारे मिशन के अध्यक्ष श्रद्धेय श्री 'बाबूजी' की पूजनीया माता जी ने लगभग ८८ वर्ष की आयु में शरीर छोड़ कर परम धाम की प्राप्ति की। वह प्रायः तीन वर्ष से अस्वस्थ थीं, किन्तु उनका शरीरपात अत्यन्त शान्ति के साथ हुआ। उन स्नेह–मूर्ति महीयसी का सम्पूर्ण जीवन आदर्श था। उनकी असीम गरिमा के किंचित अनुमान के लिए इतना ही पर्याप्त है कि उन्होंने श्रद्धेय 'बाबू जी' जैसा रत्न संसार को प्रदान किया। दिवंगत की अक्षय शान्ति एवं चिरन्तन सद्गति के लिए परम पिता से सभी की प्रार्थनाएँ हैं।

सम्पादकीय

धर्म, नैतिकता और अध्यात्म

मानव संस्कृति के विकास के इतिहास में 'धर्म' का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। पाश्चात्य दर्शन में 'मनुष्य' की प्रकृति के दो मुख्य तत्व माने गये हैं:--(१) पाशविकता (Animality) और (२) विबोध (Reason)। अतः वैयक्तिक एवं सामुदायिक दोनों ही दृष्टियों से मानवता के विकास का अर्थ निर्धारित किया गया है----उत्तरोत्तर (१) पाशविकता का नियन्त्रण और (२) विबोध का परिष्कार। मानव संस्कृति के इतिहास में 'धर्म' के महत्व का परीक्षण भी इन्हीं दो कसौटियों के आधार पर किया जाता है। आज का यथार्थवादी विज्ञान 'धर्म' का बहिष्कार करने को इसी लिए कटिबद्ध है, कि धर्म 'विबोध' का परिष्कार न करके 'अन्ध विश्वास' को प्रश्रय और स्वीकृति (Sanction) प्रदान करता है। आधुनिक विज्ञान की मान्यताओं से प्रभावित आज का मानवतावादी क्रांतिकारी सुधारक भी इस बात से क्षुब्ध है कि धर्म के नाम पर मानवता के इतिहास में जाने कितने अत्याचार हुए हैं, और धर्मान्धता ने पाशविकता का शमन न करके उसे प्रोत्साहन ही प्रदान किया है। यह यथार्थवादी विचार धारायें मानव संस्कृति के विकास में 'धर्म' का ऐतिहासिक महत्व मानती हैं। किसी न किसी रूप में धर्म मानव समाज में वैयक्तिक एवं सामुदायिक नैतिकता का संरक्षक रहा है। इसी कारण आज यत्र तत्र विज्ञान की प्रगति के परिणाम स्वरूप उत्पन्न तथाकथित अनैतिकता को दूर करने के लिए फिर से धर्म की शरण में जाने की अपीलें सुनाई पड़ती हैं। माराश यह है कि आज के वैज्ञानिक युग में 'धर्म' का यदि कोई महत्व स्वीकार किया जा सकता है, तो वह नैतिकता के साधन के रूप में ही।

किन्तु आधुनिक विज्ञान तो अन्ध विश्वासों पर आधारित नैतिकता को भी चुनौती देता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से विज्ञान का लक्ष्य वास्तविक अर्थात् 'यथा तथ्य' ज्ञान प्राप्त करना है। और 'यथा तथ्य' के क्षेत्र में 'शुभ' और 'अशुभ' का कोई प्रश्न नहीं। 'शुभ' और 'अशुभ' तो व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से सापेक्ष प्रत्यय हैं। व्यावहारिक जीवन को नियन्त्रित रखने की निस्संदेह आवश्यकता रहेगी क्योंकि वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति में नियमित जीवन सहायक होता है। अतः विज्ञान यदि नैतिकता का कोई महत्व स्वीकार करता है, तो वह शुद्ध अर्थात् वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति के साधन के रूप में ही। वास्तव में अन्ध विश्वासों पर आधारित नैतिकता मानव संस्कृति के विकास—जिसके दो माप दण्ड ऊपर दिये जा चुके है—में सहायक नहीं किन्तु बाधक ही होगी। आज के युग में वही नैतिकता सफलता पूर्वक स्वीकृत हो सकेगी जो सुविकसित विज्ञानों द्वारा अर्जित ज्ञान राशि की सुदृढ़ आधार-शिला पर स्थित हो।

अब हम एक प्रश्न विज्ञानों की सीमा के विषय में भी उठायेंगे। नैतिकता का महत्व ज्ञानार्जन में सहायक साधन के रूप में मान भी लें तो क्या ज्ञानार्जन ही मानव का अन्तिम लक्ष्य है? यदि ऐसा होता तो वैज्ञानिक प्रगति के इस युग में हमारी संस्कृति के समक्ष आज जीवन-मरण का प्रश्न प्रस्तुत न होता। वास्तव में जिस ज्ञान के द्वारा मानव वैयक्तिक और सामुदायिक रूप से अपने विकास के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता, वह व्यर्थ है। आधुनिक विज्ञान इस बात को स्वीकार करता है। अब प्रश्न यह उठता है कि मानव के विकास का क्या अर्थ है? यथार्थवादी स्तर पर इसका अर्थ बाह्य जीवन की समृद्धि ही कहा जायेगा। और यही आज के यथार्थवादी विज्ञान की सीमा और उसका एकाङ्गीपन है। व्यापक दृष्टि से मानव के विकास का अर्थ है उस के उत्तरोत्तर आदर्श स्वरूप की प्राप्ति। मानव का आदर्श स्वरूप क्या है?—बस यही अध्यात्म का मूल प्रश्न है।

धर्म, नैतिकता और अध्यात्म का पारस्परिक सम्बन्ध संक्षिप्त रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। कर्म-काण्ड विषयक विधि-विधान के अर्थ में धर्म इहलौकिक जीवन का सुचारु रूप से नियमन और संचालन करता है। इसके द्वारा वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की व्यवस्था निर्धारित होती है। साधारण जन के लिए यह विधि-विधान और व्यवस्था का पालन ही उद्देश्य रहता है। किन्तु एक ओर इस विध-विधान का आधार मानव के आदर्श स्वरूप के विकास की स्थितियों का ज्ञान है, और दूसरी ओर इस विधि--विधान का उद्देश्य मानव के आदर्श स्वरूप की संप्राप्ति की परिस्थितियां प्रस्तुत करना है। दूसरे शब्दों में धर्म का कार्य नैतिक व्यवस्था का स्थापन है, किन्तु नैतिक व्यवस्था स्वयं अपना लक्ष्य नहीं है। जिस प्रकार नैतिकता से अलग हो जाने पर धर्म अन्धा हो जाता है, उसी प्रकार नैतिकता अध्यात्म से अलग रह जाने पर अन्धी हो जाती है। जब तक हमें मानव के चरम विकास अर्थात् आदर्श स्वरूप की क्रमिक स्थितियों का ज्ञान न होगा, और उन्हें प्राप्त करना अपना उद्देश्य नहीं मानेंगे, तब तक नैतिक नियमों का पालन रूढ़ प्रथाओं के रूप में ही करते जायेंगे। वास्तविक लक्ष्य की ओर प्रगति न हो सकेगी। पाश्चात्य और प्राच्य—दोनों ही दर्शन पद्धतियों में आत्मपूर्णतावाद सर्वोत्कृष्ट नैतिक सिद्धान्त स्वीकार किया जाता है। अन्तर केवल इतना है कि पाश्चात्य दर्शन विबोध की संप्राप्ति को ही आत्मपूर्णता की चरम सीमा मानता है, किन्तु भारतीय दर्शन में मानव के विकास को अनन्त कहा जाता है।

अब यदि हम आज मानव संस्कृति के समक्ष उपस्थित समस्याओं और परिस्थितियों का विवेचन करें तो अध्यात्म का महत्व स्पष्ट हो जायेगा। वैज्ञानिक प्रगति ने हमारी संस्कृति को एक बड़ी निधि प्रदान की है—धार्मिक और नैतिक अन्ध विश्वासों के प्रति उत्कट अनास्था। किन्तु वैज्ञानिक प्रगति ने हमें एक संभ्रम (Confusion) भी प्रदान किया है—मानवीय विकास के उद्देश्य के विषय में। आधुनिक विज्ञान ने नैतिकता के प्रति अनास्था तो उत्पन्न कर दी

है, किन्तु उसका उन्मूलन कर सकना सम्भव नहीं हो पाया, क्यों कि ऐसी स्थिति में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाने पर स्वयं विज्ञान का विकास असम्भव हो जायेगा। ऐसी स्थिति में नैतिकता का अन्धापन दूर करने की आवश्यकता है। वह उसके उद्देश्य--मानव के आदर्श स्वरूप की क्रमिक स्थितियों का साक्षात्कार प्राप्त करने पर ही सम्भव होगा। अतः अध्यात्म नैतिकता का विरोधी नहीं, किन्तु पूरक है, और मानव संस्कृति के समक्ष प्रस्तुत नैतिक समस्या के समाधान के लिए अध्यात्म को रहस्य के वृत्त से मुक्त करके अध्ययन और परीक्षण के लिए सर्वसाधारण के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास सभी मानवतावादी विचारकों का दायित्व है।

हमारा श्री रामचन्द्र मिशन इस दायित्व के प्रति जागरूक है। हम उस परम्परागत साधना पद्धति को सर्व साधारण के लिए सुलभ करने के लिए प्रयत्नशील हैं, जिसके द्वारा साधना साहित्य में वर्णित आध्यात्मिक स्थितियों का साक्षात्कार प्राप्त किया जा सकता है। इस दायित्व की पूर्ति में सहयोग प्रदान करने के लिए मानव मात्र को हमारा आमन्त्रण है, विशेषतः प्रतिभा सम्पन्न अन्वेषण–प्रिय साहसी व्यक्तियों को।

❀ ❀ ❀ ❀

'सहज मार्ग' पत्रिका के पिछले अङ्क में हमने यह आशा प्रकट की थी कि वार्षिक शुल्क में वृद्धि किये बिना पत्रिका का प्रकाशन द्विमासिक हो जाये। ग्राहकों की संख्या पर्याप्त न होने के कारण हम इस निश्चय को इस वर्ष कार्यान्वित न कर सकेंगे। प्रस्तुत अङ्क से हिन्दी विभाग में एक स्थायी स्तम्भ 'अनन्त यात्रा' शीर्षक के अन्तर्गत प्रारम्भ किया जा रहा है, और 'अभ्यासी के अनुभव' शीर्षक का स्थायी स्तम्भ अँग्रेजी विभाग को स्थानान्तरित कर दिया गया है। प्रस्तुत अङ्क की छपाई में कुछ देर हो जाने के लिए उदार पाठकों से हम क्षमा प्रार्थी हैं।

—सम्पादक

—❀❀❀—

1957 June

तर्ज़े गुफ्तगू

[समर्थ गुरु श्री रामचन्द्र जी महाराज, फतेहगढ़]

अख़लाक़[1] एक बहुत व्यापक चीज़ है, जिसमें हर तरह की एतदाली कैफियतें[2] आती हैं। अब एक बात बहुत महत्वपूर्ण है जिसके करने से अख़लाक़ी कैफियत दूसरों पर झलकने लगेगी और हम सब को लाभ होगा। वह यह कि तर्ज़–गुफ्तगू निहायत मुलायम अर्थात बिना उतार चढ़ाव के होना चाहिये। उसकी शकल ऐसी होनी चाहिये कि जैसे ईश्वरीय धार सरल रूप में प्रारम्भ से अब तक एक सी बह रही है। जब गुफ्तगू का प्रवाह असल से मुताबिकत[3] करता हुआ चलता है तो उन दोनों में हम–आहङ्गी[4] पैदा हो जाती है और उसके द्वारा कुदरती तर्ज़ खुद बखुद पैदा होने लगता है। और असर पैदा होने लगता है। जो बात कही जाती है गड़ती चली जाती है। दूसरे शब्दों में उसका एक प्रकार का सम्बन्ध असल धार से पैदा हो जाता है। तरकीब यह है कि गुफ्तगू में उतार चढ़ाव और Pitch जिसको तेज़ी भी कहते हैं सबसे पहले दूर करना चाहिये। गुस्सा रुहानियत के लिये ज़हर है। एतदाल कभी नहीं आ सकता जब तक इस वबा[5] से नजात[6] हासिल न कर ली जाये और अपने आपको उससे खाली न कर लिया जाये। गुस्सा का असर यह होता है कि System (व्यक्तित्व की संहति) में भारीपन आ जाता है और दबाव पैदा हो जाता है जिसकी वजह से आज़ाद और मुलायम कुदरती धार प्रवाहित नहीं हो पाती और ख़याल पर से वजन नहीं हट पाता जो गुफ्तगू में तेज़ी पैदा करता है। जितनी कमी इसमें होती जायेगी उतनी ही यह धार असल धार से हम–आहङ्गी करती जायेगी।

इन बातों की तरफ ध्यान किसी का नहीं गया। हमेशा एतराज़[7] अपने गुरु महाराज पर ही होता रहा कि आपने कुभी सख्ती नहीं की। दिलों पर क़ाबू पाना बहुत मुश्किल है। हमेशा उसीने काबू पाया है जिसने अपने दिल को क़ाबू में कर लिया है। शीरीं

१—बातचीत का ढङ्ग, २—चरित्र, ३—सम अवस्था, ४—मिलता जुलता, ५—एकरूपता, ६—बीमारी, ७—छुटकारा, ८—आक्षेप,

दहनी[९] इसकी जान है, और शुरुआत की मंज़िल है, किन्तु साथ ही यह बात ज़रूर होना चाहिए कि इसमें ज़मांना-साज़ी[१०] की रंगत का लेशमात्र लगाव न हो। यह वह चीज़ है जो पहले ही मर्तबा दूसरे के दिल पर असर करती है। क्या अच्छा कहा है:—

बनोगे खुसरुये-अक़लीमे-दिल शीरीं ज़बाँ होकर।
जहाँगीरी करेगी यह अदा नूरेजहाँ होकर॥ ११

एक दिन सत्संग के समय एक श्रेष्ठ अभ्यासी ने श्रद्धेय बाबू जी से प्रश्न किया "आध्यात्मिक उन्नति हो रही है या नहीं, इसका अनुभव किस पैमाने के आधार पर किया जा सकता है ?"

उत्तर मिला "जहां तक व्यक्तिगत अनुभव का प्रश्न है, आप पहले शारीरिक उन्नति को ले लीजिये। जन्म के समय आप जितने बड़े थे और अब जितने बड़े हैं इसमें बहुत बड़ा अन्तर है। किन्तु क्या किसी भी दिन या किसी भी क्षण आपको यह अनुभव हुआ कि इतना बढ़ गये ? अब बाहरी पैमाने (objective or external standards) ज़रूर हो सकते हैं। वह यही कि आप मनोवृत्तियों की चंचलता, व्यक्तित्व के संगठन और चारित्रिक गुणों आदि के विषय में अभ्यास प्रारम्भ करने के पहले और कुछ दिनों बाद की स्थितियों की तुलना कर सकते हैं।"

९–मीठा बोलना, १०–चालाकी, ११-तुम मृदु भाषी होकर हृदय के साम्राज्य के शासक बनोगे, यह अदा (ढङ्ग) नूरजहाँ (विश्व का प्रकाश) बनकर जहाँगीरी (विश्व का शासन) करेगी।

हमारी मंज़िल

श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन

यदि मैं इन्सानी पहुँच का ख़याल बांधूँ तो उसका यह आलम है कि बल्लियों कोई चढ़ाई करता चला जाये फिर भी उतनी ही चढ़ाई बाकी रहती है। और गुरुओं का यह हाल है कि रूहानियत (आध्यात्मिकता) प्रारम्भ होने से पहले ही अपने आप को कामिल (पूर्ण) समझ बैठते हैं, और लोगों को सिखाना शुरू कर देते हैं। और, भाई, सीखने वालों का भी चरित्र इस क़दर बिगड़ चुका है कि उन में लाल और रंग की तमीज़ (विवेक) बाक़ी नहीं रही। और वह इतने Mechanical (यन्त्रवत) बन गये हैं कि उन्हें Mechanical Engineer की ही तलाश रहती है। उनका दिल ज़्यादातर उन्हीं की कारीगरी और बनाई हुई चीज़ों पर गिरता है। अब जैसी उनकी निगाह या दिल बन गया वैसे ही सिखाने वाले भी पैदा हो गये। उनको अगर कोई तालीम देना चाहे तो उन्हीं के तरीक़े में तालीम देने से वह यह समझते हैं कि वाक़ई तालीम है। और उनकी ज़्यादा ख़ता भी नहीं। प्रवचन सुनते सुनते उनकी यह हालत हो गई है कि धतूरा खाना, चरस पीना, भंग का इस्तेमाल ही उनको पसन्द है। वाक़ई उन्होंने अपनी दोस्ती इन नशीली चीज़ों से पैदा कर ली है और इस ज़माने में ऐसे Transmitter (तवज्जह देने वाले) भी मौजूद हैं कि यही चीज़ें दूसरे में दाख़िल करते हैं और सीखने वाले को भी यह चीज़ पसंद आती है और इसी को "असर" कहते हैं। यह मिसाल आजकल क़ाबिल गुरू और क़ाबिल चेलों की है। यहाँ तक लोग अगर आ गये तो बस फिर वह यह समझने लगते हैं, कि अब तो वह दौलत मिलने लगी है और वह नशा आने लगा है जो उनको नसीब न था। कोई हालत अगर ज़रा अजीब हो गई समझ लिया कि यह विशेषता आध्यात्मिक शक्ति ही की बदौलत है। और हमको बस ऐसे ही गुरू की क़दर लाज़िमी है और बस जीवन का चरम लक्ष्य इसी से प्राप्त हो सकता है। ऐसे शिष्यों ने अपने ऐसे

गुरुओं से यह सवाल कभी नहीं किया कि भाई यह transmission (तवज्जह) जो हमको तरक्की देता है क्या असल भंडार का है या उसके अलावा। मानलीजिये ऐसे गुरुओं से मैं सवाल कर बैठूँ तो वे लोग यही जवाब देंगे कि यह नशीला transmission (तवज्जह) बस असल भंडार से ही है, और बिल्कुल ईश्वरीय फैज है। इस जवाब पर क्या मेरा ख्याल यह पैदा नहीं हो सकता कि ईश्वर भी भंगड़ी या नशेबाज है, तब तो यह चीज उसके पास से ऐसी आ रही है। अगर वह वास्तव में ऐसा है तो मैं समझता हूँ कि जिनको नशा पसन्द नहीं है और जिन्हें नशीली चीजों से नफरत है वह ऐसे ईश्वर को सात बार सलाम करेंगे और सम्बन्ध रखना पसन्द न करेंगे।

एक बात आप लोगों को यह बताता हूँ कि जिस गुरू में Senses (इन्द्रियासक्ति) खत्म नहीं हुई या बहुत कुछ मन्द नहीं पड़ गई उससे नशा ही मिलेगा क्योंकि असलियत का प्रारम्भ इन्द्रियों के मुअत्तल (शिथिल) होने के बाद से होता है। ऐसे व्यक्ति की तवज्जह में यह चीज पैदा नहीं होती जो मैंने ऊपर लिखी है। हाँ, प्रारम्भिक स्थितियों में अभ्यासी को कुछ नशा सा जरूर मालूम होता है। मगर उसको नशा नहीं कह सकते क्योंकि किसी इन्द्रिय की शक्ति पर जोर नहीं होता, बल्कि शान्ति और मगनता का अनुभव होता है, जिससे अभ्यासी अपने आपको गैर महसूस करने लगता है यानी जो हालत आमतौर पर आमलोगों की रहती है उससे ऊँचा उठा हुआ पाता है। और यह उच्चतर स्तर का प्रभाव होता है। बहुधा ऐसे अभ्यासी की झूमने को तबियत चाहती है और झूमने भी लगता है, इसको आत्मा का नृत्य कहते हैं। और यह बड़ा उच्चतर किस्म का नाच है।

जब मैं यह देखता हूँ कि मुझे अभी कितना सिखाना है तो मेरे होश उड़ते हैं और चाहता यह हूँ कि घोलकर पिला दूँ। मगर घोलकर पीने वाले भी इक्का दुक्का होंगे और यह मेरी किस्मत है। मुझे तो ऐसा अनुभव होता है कि जितना मुझे गुरू महाराज ने सिखाया है और सिखाना अब भी जारी है उतना ही यदि किसी व्यक्ति को सिखाता हूँ तो फिर भी जो आगे सीख रहा हूँ बाकी रह जाता है। अब क्या तरकीब हो सकती है कि वह भी बाकी न रहे।

वह यही है कि लोग अपनी पूर्ण लय-अवस्था पैदा करें और यदि कहीं बिल्कुल घुलमिल जावें तो फिर कहना ही क्या। और, भाई, जितना मैं अब सीख रहा हूँ यदि ऐसा आदमी कोई बनने की कोशिश करे तो उसकी तरकीब यही हो सकती है कि मुझे अपने में लय होने के लिये मजबूर कर दे। इसकी तरकीबें तो भाई वही हैं जिसको बुद्धिजीवी वर्ग कुफ्र समझेगा।

मेरी तमन्ना यह जरूर है कि मैं अपने साथ बैठने वालों को या वह लोग जो मुझसे रोशनी लेना चाहते हैं केन्द्र के निकट पहुँचा दूँ और उसमें तैरना शुरू करा दूँ, उसके बाद ऐसे Points हैं जिनसे प्रकृति पर अधिकार प्राप्त होता है और उससे काम लेने की शक्ति पैदा हो जाती है। यह चीज और है और यह हर शख्स के हिस्से में नहीं आती है। जिस्म का हर जर्रा एक ताकत रखता है और जितने प्रकार के जर्रे Universe (विश्व) में हैं, सब जानदार में मौजूद हैं। रीढ़ की हड्डियों के जितने Points हैं उनमें बेशुमार ताकतें भरी पड़ी हैं। उनको तरफ किसी की निगाह नहीं जाती। कुन्डलिनी कुन्डलिनी कहकर सब पुकार रहे हैं और जो देखो वह कुन्डलिनी शक्ति के जगाने की आरजू रखता है। मेरे पास भी दो तीन आदमी ऐसे आये जो सिर्फ यही चाहते थे। दिमाग में जितने Cells (केन्द्र) हैं उनमें जो मराज है उसका हर जर्रा विशिष्ट शक्ति रखता है और ऐसे करोड़ों जर्रे उसमें मौजूद होंगे। इन चीजों का ख्याल किसी में पैदा नहीं होता ताकि उनकी ताकत को भी काम में लाया जावे। इन चीजों के मुकाबले में जो मैंने बयान की हैं कुन्डलिनी एक खिलौना है। अगर मैं यह सब बातें किसी के सामने रखूँ तो कोई मेरी मानने क्यों लगा। इस लिए कि मैं क्या और मेरा कहना क्या। अगर इसका करिश्मा (चमत्कार) दिखाऊँ तो भी लोग इतने सवेदनशील नहीं मिलते कि उसको अनुभव कर सकें। अतः लिखाये चला जाता हूँ। मुम्किन है किसी वक्त कोई इन चीजों पर गौर करे। इसमें जो हालतें हैं शब्दों में व्यक्त नहीं हो सकतीं बल्कि बड़े अनुभव की आवश्यकता है।

मेरी समझ में नहीं आता कि लोग इन चीजों को लेने के लिए तैयार क्यों नहीं होते। मैं तो इसकी कुछ कीमत भी नहीं मांगता। मुफ्त देना चाहता हूँ। क्या मुझमें कोई कमजोरी तो नहीं

है कि मेरे कहने व लिखने का कोई असर नहीं होता। और भाई जब मुझसे यह चीजें कोई न लेगा तो सम्भव है कि मैं उनको फेंक कर चला जाऊँ जिससे कि मुमकिन है मेरे बाद ही कुछ लोग 'छपरा भर भर कर सुहाग उठा लें'। भाई सच कहता हूँ मैं जैसा भी हो रहा हूँ उसके लिए overflooded (परिपूर्ण) शब्द ही मिलता है। और इसी लिए अगर कोई इच्छा है जो मुझसे गई नहीं तो वह यही है कि कोई तिश्नालब (प्यासा) मिल जावे। मुझमें मेरा कुछ नहीं है बल्कि जो कुछ मेरे पास है वह हमारे गुरु महाराज की अमानत है जो आप सबके लिए जमा है। मैं चाहता हूँ कि इस अमानत को अपनी जिन्दगी में आप लोगों को सुपुर्द कर दूँ और इस बोझ से कन्धे को हलका करके खालिस चला जाऊँ। यदि सच पूछो तो मेरे पास अमानत को छोड़ कर अब जो कुछ भी है वह न आध्यात्मिकता है, न वास्तविकता और न आनन्द। अब यदि आप मुझसे यह पूछें कि फिर तुम्हारी मंजिल क्या है तो दिल से यही जवाब निकलेगा कि मैंने तो भाई उसको भी गुम कर दिया है मुझे तो अब कुछ दिखाई नहीं पड़ता, इस लिए मैं क्या कहूँ। मेरी आखें पथरा चुकी हैं और मुर्दनी छा चुकी है, अब मुझे कौन पूछे। मुर्दा चिड़ियों पर तो शहबाज की भी निगाह नहीं जाती।

(एक पत्र से उद्धृत)

—❀❀❀—

❀ भजन ❀

राग देस

दरस बिन दुखन लागे नैन।
जब से तुम बिछुरे प्रभु मोरे कबहुँ न पायो चैन।
सबद[1] सुनत मेरी छतियाँ कांपै मीठे लागैं बैन।
बिरह कथा कासूँ कहूँ सजनी बह गई[2] करवत ऐन।
कल न परत पल हरि मग जोवत भई छमासी रैन।
'मीरा' के प्रभु कब रे मिलोगे दुःख मेटन सुख देन॥

—मीरा बाई

(१) स्मरण आते ही, (२) आरी चल गई अर्थात बहुत पीड़ा हुई।

अनन्त यात्रा

[इस स्थायी स्तम्भ का उद्देश्य साधकों की आध्यात्मिक प्रगति का विवरणात्मक चित्र प्रस्तुत करके ब्रह्म-विद्या को सुव्यवस्थित वैज्ञानिक अध्ययन के लिए सुलभ करना है। एतदर्थ श्रद्धेय बाबू जी के साथ एक श्रेष्ठ एवं संवेदनशील अभ्यासी के पत्र-व्यवहार का क्रमशः प्रकाशन प्रारम्भ किया जा रहा है। पत्रों के केवल वही अंश प्रकाशित किये जावेंगे जो आध्यात्मिक स्थितियों के अनुभव से सम्बन्धित हैं। अभ्यासी का नाम आदि व्यक्तिगत बातें प्रकाशित नहीं होंगी।

—सम्पादक]

(१)

परमपूज्य श्रद्धेय श्री बाबू जी के,

चरणों में सादर प्रणाम।

आज आपको पत्र लिखने का साहस कर सका हूँ। मेरी शारीरिक हालत काफ़ी अच्छी है। कृपया इस दीन-हीन की आध्यात्मिक उन्नति का बराबर ध्यान रखियेगा। आपका बताया हुआ ध्यान कुछ कर लेता। हूँ पूज्य... ... ...दूसरे दिन और कभी कभी रोज sitting देकर परम सुख और शान्ति प्रदान करते हैं। अपनी आजकल की डायरी लिख रहा हूँ। इसमें जो गलती हो सुधार लीजियेगा। मैं तो गल्तियों से भरा हूँ किन्तु आपके सामने पहुँचने से ही मेरी गल्तियाँ मेरा फायदा करेंगी।

आजकल प्रातःकाल उठकर आपको प्रणाम करके, जैसे पूज्य··· ··· ···ने बताया है वैसे अपने विकारों को अपने से अलग करता हूँ। प्राण प्यारे ईश्वर को सबमें रमा हुआ जानकर आपका बताया हुआ अभ्यास करता हूँ। फिर दिन भर जहाँ तक बन पड़ता हूँ उस परम प्यारे ईश्वर को याद करता हूँ। आपको कर्त्ता समझ कर 'मैं कुछ नहीं करता हूँ, सब बाबू जी करते हैं,' कर्म करता हूँ और ईश्वर के अत्यन्त पावन ॐ नाम का मन में जाप करता हुआ उसी में रमने की कोशिश करता हूँ। आप ऐसी कृपा करें कि उस में बिल्कुल रम जाऊँ। आजकल sitting लेते समय या और कभी

ध्यान करने पर 'ॐ' ऐसा पवित्र नाम ज़ोर ज़ोर से सुनाई देता है। कभी कभी दो एक दिन सपने के समान बीत जाते हैं। कुछ मालूम नहीं पड़ता है कि क्या किया है और क्या करना है! परन्तु बाबू जी, मैं अपने परम कृपालु ईश्वर को एक क्षण के लिए भी न भूलूँ, एक पल भी बिना उसकी याद आये न जावे, अपने को बिल्कुल भूलकर मैं सदा सब जगह उसे ही देखूँ, आप इस गरीब को ऐसा ही आशीर्वाद दीजिए। आपने पूज्य···· ····को भिखारी * कैसा होना चाहिए इसके बारे में लिखा है। आप आशीर्वाद दें कि ईश्वर कृपा करके मुझे अपना वैसा ही भिखारी बनावें। अपनापन भी दिन में कभी कभी आ जाता है। और कोई समाचार नहीं है। मुझमें विकारों की कोई गिनती नहीं है कि कितने हैं परन्तु ईश्वर की कृपा से तथा आपके आशीर्वाद और सहायता से सब जल जायें।

आपकी सन्तान

(२)

पूज्य तथा श्रद्धेय बाबू जी के चरणों में,

सादर प्रणाम स्वीकृत हो।

कृपा-पत्र आपका कल पूज्य···· ···· ····के लिए आया-उसमें आपने जो मेरे लिए बतलाया है वह थोड़ा करना शुरू कर चुका हूँ। आगे जो दशा मैंने आपसे बताई थी कि तीन तीन, चार चार दिन यह ध्यान नहीं रहता है कि क्या किया है, क्या कर रहा हूँ और क्या करना है वह दशा आपके आशीर्वाद से तथा ईश्वर की कृपा से स्थायी सी हो गई है। कभी कभी दो एक दिन को मुझे क्रोध का दौरा सा आता है, शायद मन की कमज़ोरी से परन्तु कुछ भी करने से पहिले 'मालिक ने कृपा करके मुझे दिया है, मालिक जाने वही सब कर रहा है' ऐसा भाव मन में उठने लगता है और बाद में यह पता भी नहीं रहता कि कैसे और क्या हो गया है।

करीब दस दिन से चलते, फिरते आँख बन्द करने पर और बात करते समय आँखों के सामने बार बार प्रकाश आ जाता है।

* 'सहज-मार्ग' वर्ष १ अङ्क ४ पृष्ट ५-६ पर प्रकाशित।

कभी कम और कभी ज्यादा। यह भी मेरे प्राणप्यारे मेरे जीवन धन ईश्वर की कृपा होगी। पूज्य बाबू जी, मेरे जीवन का मुख्य ध्येय प्यारे मालिक की प्रसन्नता प्राप्त करना तथा उन्हें प्राप्त करना ही रहे। आप मुझ पर ऐसी कृपा करें और यही आशीर्वाद दें। सदा सबमें ईश्वर का ही दर्शन करता हुआ और जन्म जन्मान्तरों से दृढ़ हुए अपनेपन से मुक्त हुआ जीवन बिताऊँ। आगे मालिक की जैसी इच्छा।

आपकी दीन हीन सन्तान

(३)

श्री 'बाबू जी' का उत्तर

प्रिय·· ·····,

आशीर्वाद।

पत्र मिला दिल को खुशी हुई। तुमको यह अन्दाज़ हो गया होगा कि जिस रास्ते पर तुम हो वह ठीक है। ईश्वर का कोई रूप नहीं इसलिए सर्वव्यापी कहा गया है। अगर उसका कोई रूप होता तो उसका क़याम एक ही जगह होता। अपनी निगाह को वसीअ (व्यापक) बनाना चाहिये। तंग दायरा तंग नज़री से होता है। हममें ऐसे लोग मौजूद हैं कि जो ठोस पूजा को उमर भर नहीं छोड़ते। हालांकि चाहिए यह कि जो ठोस अवस्था ज्यादा लिए हुए हैं उनको ठोस पूजा में डालकर धीरे धीरे उससे निकाल कर सूक्ष्म की तरफ ले जाना चाहिए। मगर चूँकि हम स्वयं ठोस हैं, इसलिए अगर ठोसता की तरफ़ डाल भी दिया जाय तो फिर उससे निकलने को जी नहीं चाहता, और सही रास्ता मालूम होने पर भी दिल उससे हटता ही नहीं। अगर मैं यह बात प्रत्येक मनुष्य से कह दूँ तो वह यही समझेंगे कि मूर्ति-पूजन के ख़िलाफ हूँ। मगर मेरा यह मन्शा नहीं। यह उन लोगों के लिए है जिनका ख़याल सिर्फ ठोसता पर काम कर सकता है। मगर हमेशा उसी चीज़ को लिए बैठे रहने का नतीजा यह होगा कि वही ठोस असरात उसके दिल में पैदा होकर दिल सख्त कर देंगे जिसको हटाने में बहुत देर लगेगी।

मूर्ति-पूजन मैंने भी किया है मगर बहुत थोड़े दिनों। मगर मुझे तसल्ली न हुई और उस चीज़ को बेकार समझ कर छोड़ दिया। अगर हम किसी से यह कहें, उस मनुष्य से जो इस रास्ते पर जा

चुका हो और वह इसको न माने तो क्या यह कहा जा सकता है कि उसको सही रास्ते पर विश्वास है। बहादुरों की पूजा हिन्दुस्थान में सदैव से चली आ रही है जिसका नतीजा यह हुआ कि लोग बस उसी की पूजा के हो रहे और मूर्तियाँ स्थापित हो गईं। अगर मैं मूर्ति-पूजन करता होता और सही रास्ता मुझको, जो इससे कहीं अच्छा है, मिल जाता और सिखानेवाला मुझसे इसको छोड़ने के लिए कहता तो शायद यह क्या मैं अपने आप को भी छोड़ने के लिए तैयार हो जाता।

इस मार्ग में बुराइयाँ छूटती हैं और फिर अच्छाइयों की तरफ भी रग़बत नहीं रहती तब कर्म-बन्धन से छुटकारा होता है। रोशनी जो तुम्हें कभी कभी नज़र आ जाती है यह आत्मा की झलक है और उन्नति का चिन्ह। मगर उन्नति के लिए यह आवश्यक नहीं कि हर शख्स को यह चीज़ नज़र आवे यह अपने अपने संस्कार व प्रकृति पर है। मैं समझता हूँ कि तुम यही पसंद करोगे कि हम उस ईश्वर से प्रेम करें जिस पर ज़मीनी तो क्या, ख्याली आवरण भी चढ़ा हुआ नहीं है। बाक़ी हालतें जो तुमने लिखी हैं वह बहुत अच्छी हैं, इनके बारे में मैं थोड़े दिनों बाद लिखूँगा।

शुभ चिन्तक
रामचन्द्र

(४)

पूज्य तथा श्रद्धेय बाबू जी,

सादर प्रणाम स्वीकृत हो।

पत्र आपका आया- आपने लिखा कि तुमको यह अंदाज़ हो गया होगा कि यह रास्ता ठीक है परन्तु मुझे तो यह दृढ़ विश्वास है कि यह रास्ता सरल तथा शीघ्र उन्नति का है। कर्त्ता तो सब मालिक है उसी की प्रेरणा से सब होता है, वह कृपा कर देगा तो इस अहंता तथा ममता में फँसे हुए मुझ जैसे व्यक्ति का भी कल्याण तथा उद्धार हो जायेगा। यह साधन मेरे लिए तो बहुत ही अच्छा है क्योंकि न इसमें बुद्धि की और न अधिक परिश्रम की आवश्यकता है जो मुझमें बिल्कुल भी नहीं है।

अब प्रकाश दीखना फिर कम हो गया है परन्तु आनन्द काफी है।

आपकी दीन-हीन, सर्व साधना विहीन संतान

... ...

(५)

श्री 'बाबू जी' का उत्तर

प्रिय.....,

शुभाशीर्वाद।

पत्र मिला- हाल मालूम हुए। प्रकाश के बारे में पहिले लिख चुका हूँ कि किसी को दिखलाई पड़ता है और किसी को नहीं और इससे तरक्की में कोई हर्ज नहीं पड़ता। फिर लिखता हूँ कि मार्ग मिल जाने पर बस उसी पर चलना चाहिए और उसी के उसूलों पर आरूढ़ रहना चाहिए।

देखो किसी कवि ने कितना सुन्दर कहा है :—

एकहि साधे सब सधै,
सब साधे सब जाये।

इस पर तुम सबको अमल करना चाहिए, यह बड़ी अच्छी बात है। दुनिया के नियम कुछ ऐसे हो रहे हैं कि अपने मतलब की ग़रज़ से जाने कितनी पूजाएँ ईजाद कर लीं। एक से अनेक में तबियत फिरने लगी। विचार की बहुत सी धाराएँ पैदा हो गईं और वह अपने देवता के गिर्द फिरने लगीं। हालत ऐसी हो गई जैसे फव्वारे में पानी हज़ारों धारें बनकर निकलता है। एकाग्रता जाती रही। असल से दूर होते गये। अब समझाने से भी नहीं मानते, ऐसी हालत बन गई। इलाज सबका बस यही है कि सिर्फ ईश्वर प्राप्ति ही अपना उद्देश्य रहे। हज़ारों वर्ष हम दुनिया में रहे और लाखों वर्ष और दुनिया में रहना चाहते हैं। हम वह तरीका क्यों न ग्रहण करें कि जहाँ से आये हैं वहीं पहुँच जावें और उन आगामी लाखों वर्षों को बचा लें।

शुभचिन्तक
रामचन्द्र

(क्रमशः)

चलता फिरता शव

(कुमारी केसर चतुर्वेदी एम० ए० एल० टी०)

साधना के क्षेत्र में साधक जब निरंतर अपने साध्य की ओर बढ़ता जाता है और उसकी लगन एक मात्र अपने इष्ट में केन्द्रीभूत होकर उसे 'उसी' में रमण करने के लिए विवश कर देती है तब वह बेचारा इस नगरी (संसार) में अनजान, बेगाने की भांति रहने लगता है। उसका यह संसार बसने के स्थान पर उजड़ने लगता है और वह अपने ही घर में पराया हो जाता है। सब उसके हैं और वह सबका होते हुये भी किसी का नहीं रहता है। वह किसी के लिए क्या करता है अथवा दूसरा उसके लिए क्या करता है इसकी भी उसे सुधि नहीं रहती। वह तो जैसे अपने में ही केन्द्रित रहता है; किसी ओर देखने का भी उसे अवकाश नहीं रहता। इसका अर्थ यह नहीं कि वह अपने दैनिक कर्त्तव्यों से दूर व्यावहारिक क्षेत्र में हीनता का परिचय देता है, अथवा अपने परिवार व अन्य लोगों के प्रति उदासीन हो कर उनसे विलग हो जाता है। यदि वह ऐसा करे तो उसकी साधना पूर्णता को न पहुँच कर अपूर्ण ही मानी जावेगी और यह उदासीनता साधक की कमी की ओर संकेत करेगी। साधक तो लौकिक व्यवहार निभाते हुए, सबके मध्य रहते हुए भी किसी से लगाव या ममता नहीं रखता है। वह तो कमल के उस कोमल दल की भांति होता है जो जल के मध्य रहते हुये भी जल के प्रत्येक कण से अलग रहता है। जल तो उसतक पहुँचने का पूर्ण प्रयत्न करता है परन्तु कमल उसका स्पर्श करके भी अपने को उससे विलग ही रखता है। उसकी यही महानता उसे साधक से उपमित करने का गौरव प्रदान करती है।

वस्तुतः केवल 'एक' का आश्रय लेकर साधक ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है त्यों-त्यों उसमें ईश्वरीय गुणों का प्रादुर्भाव होता जाता है, और वह मद मत्सर आदि अवगुणों से हीन होकर स्वच्छ और निर्मल होता जाता है। क्षमा, सहानुभूति, नम्रता आदि की वृद्धि ही

उसे सतत उन्नति की सूचना देती रहती है। क्रोध जैसे भयानक शत्रु से जितनी सरलता तथा शीघ्रता से इस क्रिया ('एक' का आश्रय लेकर आगे बढ़ना) द्वारा पीछा छूटता है संभवतः किसी अन्य उपाय से नहीं। क्रोध पिघल-पिघल कर पानी हो जाता है और उसका स्थान सहनशीलता ले लेती है। प्रशंसा यह है कि साधक को इन्द्रिय दमन का अभ्यास नहीं करना पड़ता बल्कि सभी मनोविकार धीरे-धीरे अपने सहज रूप में आ जाते हैं। साधक को अपने सद्गुरु 'मालिक' के सतत स्मरण का अभ्यास करना पड़ता है। चलते-फिरते, सोते-जागते, उठते-बैठते उसे केवल स्मरण की धुन रहनी चाहिये।

महात्मा सूरदास के शब्दों में :----

'नाहिन रह्यो हिय में ठौर।
श्याम-सुन्दर अछव कैसे आनिये उर और॥
चलत-चितवत, दिवस-जागत, स्वप्न सोवत रात।
हृदय तें वह श्याम मूरति, छिन न इत उत जात॥

यथार्थतः साधक इसी दशा का ग्राहक है। यह दशा उत्पन्न होते ही वह संसार में रहते हुये भी संसार से दूर अति दूर रहने लगता है। शरीर तो इसी संसार के कार्यों को करते हुये अपने कर्त्तव्यों का प्रतिपालन करते हुये दीखता है परन्तु मन अपने 'प्रियतम' के चरणारविन्दों में सदैव के लिये समा जाता है। उसकी शारीरिक भूख समाप्त हो जाती है और मन के लिये केवल एक ही भोग्य पदार्थ 'ध्यान अथवा सतत स्मरण' रह जाता है। परन्तु इतने में ही इति श्री नहीं हो जाती। धीरे-धीरे वह इस ध्यान अथवा सतत स्मरण के बंधन से भी छूटने लगता है। 'ध्यान' का अभ्यास न करते हुये भी वह ध्यान मग्न रहता है। वह स्वयं यह नहीं समझ पाता कि वह ध्यान कर रहा है अथवा नहीं। 'हाँ' 'नहीं' दोनों के बंधनों को तोड़कर वह स्वाभाविक रूप में या सहज रूप में ध्यानावस्थित रहता है।

इस स्थान पर यह प्रश्न उठ सकता है कि ऐसा क्यों है ? क्यों नहीं उसे यह ज्ञात होता कि वह स्मरण में लीन है अथवा नहीं ? वास्तविक बात यह है कि यदि उसे अपने करने का ज्ञान है तो

उसकी साधना में वास्तविकता नहीं आ पाती। 'ब्रह्म' भी तो ऐसा ही है कि सारे संसार का निर्माण, पालन व संहार करते हुए भी उसे यह सुधि नहीं रहती कि वह क्या कर रहा है; तब भला 'उसी' में लय हो जाने के लिए प्रयत्नशील साधक को यदि अपने कुछ कर सकने का गुमान रहता है तो उसकी साधना उथली है, उसमें गंभीरता नहीं है। वह तो जब स्वयं शून्य हो जावे तभी शून्य में मिल पावेगा।

साधक जब ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है कि वह अपने में ही मग्न रह कर कभी एकाकीपन का अनुभव नहीं करता, सांसारिक दुर्बलताओं से परे हो कर अपने अंदर अदम्य उत्साह, प्रसन्नता और चुस्ती का अनुभव करता, है, विपत्तियों के मेघ उस पर गरजते हैं परंतु वह निर्भय, निश्चिन्त हो कर पग आगे बढ़ाता जाता है तभी वह भावशून्य हो कर इस संसार में रमण करता है। उसे न जीने से प्रेम है और न मरने का भय। दोनों ही उसके लिए समान हैं। ऐसे ही साधक को चलते-फिरते शव की संज्ञा देना उचित है। भावनाशून्य प्राणी जिसे प्रेम, घृणा, ईर्ष्या आदि का कुछ भी भान न हो वह शव के ही समान है। वास्तव में साधक तो जब जीवित रहते हुए भी शव की भांति निष्क्रिय हो जाता है तभी वह अपने 'प्रिय इष्ट' तक पहुँचने में समर्थ होता है।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

सहज-मार्ग के एक श्रेष्ठ साधक से उसके एक मित्र ने व्यक्तिगत रूप से अनुभव में आने वाली स्थितियों के विषय में जिज्ञासा प्रकट की।

साधक ने 'समत्व दृष्टि', निष्काम कर्म आदि स्थितियों का अनुभव वर्णन किया।

जिज्ञासु मित्र ने कहा "यह सब अस्वाभाविक और अप्राकृतिक बातें मैं नहीं मान सकता।"

साधक ने उत्तर दिया "यूँ तो कोई भी मान नहीं सकता और न मानना चाहिए, जब तक अपने आप पर न बीते, केवल मान लेने से लाभ ही क्या! आम का स्वाद तो उसे चखने पर ही ज्ञात हो सकता है।"

मंगल प्रभात

(श्री सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव एम० ए० लखीमपुर-खीरी)

बुझाता जन्म जन्म का दाह,
प्रवाहित मरु में प्राण-प्रवाह ॥"

(१)

मौत का ले रुँधता सुनसान,
गई अब काली रजनी बीत।
निराशा के खंडहर पर खड़ी,
हँस रही नई जिन्दगी जीत ॥
गा चला झरने सा आलोक,
गुलाबी, शीतल, मधुर अथाह ॥

(२)

गरजता कहाँ गया तूफान,
छिप गये कहाँ विषैले साँप।
लालसाओं का झिलमिल देश,
मिट गया कैसे अपने आप ॥
कहाँ शंका चिन्ता के मेघ,
कहाँ कण कण को डसती डाह ॥

(३)

शान्ति का शीतल, सजल प्रकाश,
मौन का अभिनव कोमल राग,
तृप्ति के नीरव जलधर श्याम
उठे हैं नूतन जग में जाग।
सभी द्वन्द्वों के पार प्रशस्त
बिछी है स्वच्छ अलौकिक राह ॥

(४)

दृष्टि हम सब फेरें इस ओर
जानकर भी न बने अनजान
दीप जीवन का जब तक शेष
चिरन्तन भवन करें निर्माण
मुक्ति-पथ का मंगल-आह्वान
सुनें, चल दें भर कर उत्साह ॥

॥ सहज मार्ग की सहज साधना ॥

[श्री विष्णुसहाय श्रीवास्तव, एम० ए० लखीमपुर-खीरी]

'योग' संस्कृत शब्द 'युज' से बना है जिसका अर्थ है 'जोड़ना' किन्हीं दो वस्तुओं के जोड़ने की क्रिया को 'योग' कहा जाता है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से योग का अर्थ उस साधना से है जिसके द्वारा हम अपने जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकें। राजयोग भारत में प्राचीनतम काल से चला आ रहा है। हमारे बड़े बड़े ऋषि मुनि इसी योग द्वारा अपने ध्येय को प्राप्त करने में सफल हो सके हैं। यद्यपि कुछ ऋषियों ने साधना के प्रारम्भिक काल में हठ योग का अनुसरण भी किया था, किन्तु अन्ततोगत्वा उन्हें भी राजयोग की शरण लेनी पड़ती थी क्योंकि बिना राजयोग में आये योगी के लिए अपने लक्ष्य की प्राप्ति असंभव हो जाती है। परन्तु फिर भी यदि राजयोग में प्राणाहुति (Transmission) न अपनाई गई तो वास्तविक अर्थ में राजयोग अधूरा ही रहेगा, और साधक अपने लक्ष्य की पूर्ति नहीं कर सकेगा। भारत के उच्च कोटि के सभी योगी प्राणाहुति से काम लेते आये हैं, जिसके दृष्टान्त हमें अनेकों उपलब्ध हैं। जिस समय रणक्षेत्र में अर्जुन ने अपने बन्धुओं पर अस्त्र उठाने से इनकार किया तो श्री कृष्ण भगवान ने उन्हें बहुत समझाया। परन्तु बार-बार समझाने पर भी जब उनका मोह खत्म न हुआ तो श्री कृष्ण भगवान ने आत्मबल से उन्हें ब्रह्माण्ड मण्डल की घटनाओं को दर्शाया जिससे उन्हें विश्वास हो गया कि उनका विनाश अवश्यम्भावी है। उसे कोई नहीं रोक सकता। उन्होंने अर्जुन को प्राणाहुति की सहायता से ही उस स्थान तक पहुँचा दिया जहाँ से वह प्रकृति में होने वाली सभी घटनाओं का अवलोकन कर सके। जिस समय स्वामी विवेकानन्द अपने गुरू महाराज-महात्मा राम कृष्ण परमहंस के पास दीक्षा प्राप्ति हेतु गए तो उन्होंने उनके माथे पर अपना दाहिना अँगूठा स्पर्श किया और उस एक स्पर्श मात्र से ही स्वामी विवेकानन्द को पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया। उन्होंने अपनी प्राण शक्ति के द्वारा केवल एक स्पर्श से ही उन्हें आध्यात्मिकता के उच्चतम शिखर पर पहुँचा दिया। जिन कार्यों को करने में अनेकों वर्ष बल्कि अनेकों जन्म लग जाते हैं वे प्राणाहुति द्वारा गुरू कृपा से क्षण मात्र

में ही हो जाते हैं। इसके द्वारा गुरू अभ्यासी के मन की प्रवृत्ति को ईश्वर की ओर मोड़ देता है और अभ्यासी आध्यात्मिक क्षेत्र में उन्नति प्राप्त करना प्रारम्भ कर देता है।

सहज मार्ग राजयोग का ही परिवर्द्धित रूप है। समयानुकूल इसमें संशोधन करके हमारे समर्थ गुरू महात्मा रामचन्द्र जी महाराज ने इसे "सहज मार्ग" का नाम दिया। ध्यान और समाधि पातंजल योग के अन्तिम चरण हैं। सहज मार्ग के अन्तर्गत अभ्यासी को प्रारंभ से ही ध्यान करना बताया जाता है और उसे समाधि अवस्था का अनुभव भी शुरू से ही होने लगता है। साधारणतः लोगों की यह धारणा है कि गृहस्थ जीवन में रह कर मनुष्य ईश्वर की प्राप्ति नहीं कर सकता; और यह धारणा बने ही क्यों न जबकि हमारे अधिकांश महात्माओं का भी यही कथन है। उनके अनुसार यदि मनुष्य को मुक्ति प्राप्त करनी है तो सबसे पहला काम उसके लिए संसार को त्यागना है। संसार को त्याग कर मनुष्य अपने को माया के जाल से मुक्त कर सकता है। किन्तु माया से परे पहुँचने के लिए यह कोई आवश्यक बात नहीं है। एक बार मुझे याद है कि एक सज्जन ने हमारे गुरू महाराज से कहा कि संसार में रह कर मनुष्य के लिए आध्यात्मिक क्षेत्र में सफलता प्राप्त करना असंभव है। उन्होंने इस विषय में संत कबीरदास जी का निम्नलिखित कथन भी सुनाया:-

चलती चक्की देखकर, दिया कबीरा रोय।
दुइ पाटन के बीच में, साबित बचा न कोय॥

इस पर हमारे गुरू महाराज ने उन्हें समझाया कि वास्तव में यह सत्य है कि चक्की के दो पाटों के मध्य कोई साबित नहीं बच सकता परन्तु यदि कोई दाना चक्की की खूँटी से जा लगता है तो वह साबित ही बच जाता है। उस पर चक्की के दाँतों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अर्थात् संसार में आकर यदि मनुष्य अपना सबध सच्ची लगन के साथ ईश्वर से स्थापित कर ले तो कोई शक्ति उसके मार्ग में बाधक नहीं हो सकती। ससार में रह कर एक गृहस्थ का जीवन व्यतीत करते हुए भी वह अपने ध्येय की प्राप्ति में सफल हो सकता है। यही है हमारे सहज-मार्ग की प्रधानता। यहाँ अभ्यासी को अपनी साधना-पूर्ति के लिए गृहस्थ जीवन के परित्याग का परा-

मर्श कभी नहीं मिलता वरन् संसार में रह कर अपने कर्त्तव्यों का श्रद्धा पूर्वक पालन करते हुए ईश्वर भजन करे। यही शिक्षा एक अभ्यासी को सहज मार्ग के अन्तर्गत प्राप्त होती है।

हमारे गुरू–महाराज के कथनानुसार अभ्यासी का जीवन एक मुर्गाबी की भांति होना चाहिए, जो हर समय पानी में रहते हुए भी जब बाहर आती है तो उसके पर सूखे ही रहते हैं। अर्थात् संसार में रह कर भी ससार से विरक्त रहे। अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए भी ईश्वर भजन करे और अन्त में मोक्ष प्राप्त कर अपने जीवन को सफल बना सके। अब प्रश्न यह उठता है कि आखिर किस भांति मनुष्य इसकी प्राप्ति कर सके। बौद्ध धर्म के अनुसार मनुष्य के आवागमन के मुख्यत: आठ कारण हैं। संसार में बार–बार जन्म लेने का मुख्य कारण मनुष्य की उत्पन्न होने की इच्छा है। उत्पन्न होने की इच्छा उपादान से होती है। उपादान का मुख्य कारण मनुष्य की तृष्णा है। और मनुष्य की यह तृष्णा इन्द्रियों के पूर्व अनुभवों के कारण होती है। उस अनुभव या वेदना की उत्पत्ति स्पर्श से है अर्थात् इन्द्रियों का सांसारिक वस्तुओं से संसर्ग होने से और इस स्पर्श का कारण षट्आयतन है। आयतन की उत्पत्ति का कारण शरीर और मस्तिष्क है जिनका आधार चेतना है। यह चेतना माता क गर्भ में पूर्व जन्मों के संस्कार के फल–स्वरूप प्राप्त होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य के बार–बार जन्म लेने का मुख्य कारण उसके संस्कार है। यदि हम इन संस्कारों पर विजय प्राप्त कर उन्हें अपने वशीभूत कर सकें तो हमको अपने कार्य में काफी सुगमता प्राप्त हो सकती है।

अधिकांश लोगों की धारणा है कि मनुष्य को वही मिलता है जो उसके भाग्य में होता है। परन्तु वास्तव में यह भाग्य है क्या? हमारे शास्त्रों के अनुसार भाग्य मनुष्य के पूर्व जन्म के कर्मों का लेखा है, जिस पर हमारा भविष्य आधारित है। जैसा इस जीवन में करेंगे वैसा ही हमको अगले जीवन में फल मिलेगा। इन्हीं कर्मों पर हमारे भावी जीवन की रूपरेखा आधारित होगी। परन्तु आखिर ऐसा है क्यों? मनुष्य की मृत्यु पर उसका शरीर इसी ससार में रह जाता है। पंच तत्व में मिल कर वह सदैव के लिए अपना अस्तित्व खो बैठता है। परन्तु फिर भी इस जन्म के कर्मों का फल हमें अगले जन्म में भोगना पड़ता है। क्यों कि मनुष्य की

मृत्यु पर उसका शरीर अवश्य नष्ट हो जाता है, परन्तु जीव (आत्मा) नष्ट नहीं होता; और वह मृत्यु के पश्चात् मनुष्य के सारे संस्कारों को अपने साथ ले जाता है जिनके अनुसार ही उसके भावी जीवन की रचना होती है, और यही संस्कार मनुष्य के अगले जीवन के लिए उसका भाग्य बन जाते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि आखिर वह कौन सा साधन है जिसके अपनाने से हमें संस्कारों की उत्पत्ति से मुक्ति मिल सके। हमारे शास्त्रों ने इसके लिए निष्काम कर्म बतलाया है। परन्तु समस्या तो यह है कि आखिर हम किस प्रकार इसका अनुसरण करें और इसमें सफलता प्राप्त कर सकें, और मान लीजिए कि हम इसमें सफल भी हो गए तो भी क्या हमें वास्तव में मुक्ति मिल सकती है? नहीं, शास्त्रों के अनुसार निष्काम कर्म का तात्पर्य उन कर्मों से है जिनके फल की अभिलाषा न की जाये। ठीक है, जब फल की अभिलाषा न होगी तो उसके करने से हमारा अभिप्राय सिद्ध न होगा। हमें तो वह साधन भी चाहिए जिसके द्वारा हमारे उन सभी सस्कारों की जिन्हें हमने जन्म–जन्मान्तरों से एकत्रित कर रक्खा है, समाप्ति हो जाये। पुराने संस्कारों की समाप्ति उनके भोग से ही होती है। जब तक हम अपने उन संस्कारों को न भोग लेंगे हमको उनसे मुक्ति न मिलेगी। इस प्रकार जब नवीन संस्कारों की उत्पत्ति बन्द हो जायेंगी और पुराने संस्कारों की समाप्ति हो जायेगी तो हमें आवागमन से मुक्ति मिल जायेगी। क्योंकि संसार में बार–बार जन्म लेने का मूल कारण मनुष्य के संस्कार ही हैं। परन्तु वास्तव में केवल आवागमन से मुक्ति प्राप्त करना ही मनुष्य का अन्तिम ध्येय नहीं है। उसे तो इसके भी परे पहुँच कर अपने इष्ट में स्थायी स्थान प्राप्त करना है, जिसके लिए उसे आध्यात्मिकता के अपार सागर को पार करना होगा। सहज मार्ग के अन्तर्गत अभ्यासी को इस कार्य की पूर्ति में प्राणाहुति के द्वारा अत्यधिक सहायता मिलती है, जिससे उसका कार्य अत्यन्त सरल हो जाता है और वह अपने पथ पर सुगमता से दृढ़ता पूर्वक आगे बढ़ता चला जाता है। इसकी सहायता से अभ्यासी की आत्मा के सारे विकार और आवरण नष्ट हो जाते हैं। और वह वायु से सुरक्षित एक दीपक की ज्योति की भांति निश्चल रह कर अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल हो सकता है।

—:※:—

❀ अहंकार ❀

[श्री जगदीशप्रसाद अग्रवाल, तिनसुकिया, आसाम]

ज्यों ही तारकोल की पक्की एवं चिकनी सड़क पर उपेक्षित से पड़े पत्थर को राही ने पार करना चाहा कि पत्थर रो पड़ा और याचना भरे शब्दों में बोला—"ठोकर तो लगाते जाओ राही"।

"ठोकर ?··· ··· ···हाँ··· ··· ···हाँ··· ··· ···परन्तु तुम रो क्यों रहे हो भाई ?" जिज्ञासावश राही ने पूछा।

"इसीलिए कि तुमने मेरी उपेक्षा की"। शब्दों की गठन में कंठ का भारीपन स्पष्ट झलक रहा था।

"उपेक्षा ? भला मैंने तुम्हारी कौन सी उपेक्षा की है ?" जिज्ञासा आश्चर्य में परिणत होचुकी थी।

"तुम जो मुझे बिना ठोकर लगाए ही बढ़े जारहे हो, यह क्या मेरी कम उपेक्षा है ?"

"ठोकर में बड़प्पन ! आश्चर्य !" विस्मय से ऊपर की पलक ऊपर और नीचे की नीचे रह गई।

"आश्चर्य की तो कोई बात नहीं है मित्र ! मेरा जीवन ही ऐसा है कि मुझे ठोकर में बड़प्पन नहीं तो कम से कम शान्ति का अनुभव तो होता ही है।"

"क्यों ?"

"क्यों का समाधान तो मेरे उत्थान और पतन की कहानी से ही सम्बद्ध है। सुनोगे ?"

"हाँ··· ·· ···हाँ··· ··· ···क्यों नहीं !" जिज्ञासा ने शब्दों में पवन की सी गति भर दी।

"तो सुनो, मेरी कहानी एक ऐसी कहानी है जिसमें मेरे जीवन का उत्थान, पतन समुद्र की लहरों की भांति ऊपर उठता है और नीचे गिरता है। जीवन में अभिमान करना अपनी प्रगति की राह में दीवार खड़ी करने के सदृश है। आज जब कभी मैं अपने वर्त्तमान और गत जीवन पर दृष्टिपात करता हूँ तो नेत्र छलक

उठते हैं और·····और·····गम्भीर निःश्वाँसों से कहानी का क्रम कुछ देर के लिए टूट गया। कुछ स्वस्थ होकर पत्थर ने पुनः कहना प्रारम्भ किया :—

"मेरा प्रारम्भिक स्वरूप आज जैसा नहीं था। उस समय मैं 'धूल' के नाम से सम्बोधित किया जाता था जो सदा से ही कोमल, स्वच्छ एवं अभिमान से रहित होती है। अतः मुझमें यह गुण विद्यमान थे, तथा मेरा जीवन अहंकार से कोसों दूर था। लोगों के पदाघातों को मैं अपने मस्तक पर शान्तिपूर्वक सहन कर लेता था। 'आह' शब्द कभी भी मेरे मुख से न निकला। मेरे इस सादे एवं अहंकार शून्य जीवन से प्रकृति प्रभावित हुई। अतः कुछ ही दिनों में मैं वर्षा वायु एवं आँधी द्वारा पर्वतों की उच्च चोटी पर जा पहुँचा और विशाल पाषाण के रूप में पर्वत की उच्चतम चोटी पर मेरा साम्राज्य स्थापित होगया। जो धूल सदैव लोगों के पदाघात सहा करती थी वही आज विशाल पाषाण बनकर आसमान पर जा पहुँची।

"कुछ दिनों तक मैं अपने प्रारम्भिक-जीवन की भाँति ही अहंकार रहित हो पर्वत की उच्चतम चोटी पर अवस्थित रहा। किन्तु शनैः शनैः मेरे जीवन में अहंकार ने प्रवेश किया और मैं भूमि पर अवस्थित वस्तुओं को देखकर गर्व का अनुभव करने लगा। कुछ समय पश्चात् मेरा अभिमान यहाँ तक बढ़ गया कि मैं आँधी, वर्षा आदि प्राकृतिक-शक्तियों को भी अपने से बहुत तुच्छ समझने लगा अर्थात् प्रकृति से मैं स्वयं को उच्च समझने लगा। प्रकृति मेरे बढ़ते हुए अहंकार को सहन न कर सकी। फलतः उन्हीं आँधी एवं बरसात ने जिन्हें मुझे यह नवीन जीवन प्रदान करने का श्रेय प्राप्त था, मुझे आकाश से पुनः उसी भूमि पर ला पटका। अहंकार ने मेरे क़दमों को जो दिन प्रति दिन आकाश की ओर बढ़े जारहे थे, खींचकर अवनति के महागर्त्त की ओर मोड़ दिया। ऊँचाई से गिरने के कारण मेरा भारी भरकम शरीर खंड खंड होकर भूमि पर बिखर गया और मैं आज इस तारकोल की विस्तृत सड़क पर अभिमान रहित होकर पड़ा हूँ। पश्चात्ताप के रूप में प्रत्येक राही की ठोकरें खाकर मैं शान्ति का अनुभव करता हूँ। हो सकता है कि कभी प्रकृति पुनः मेरे इस परिवर्तित जीवन से प्रभावित हो उठे। और मैं·····और मैं·····"

"रुको नहीं··· ···कहते चलो !" एकाग्रता में विघ्न पड़ते देख राही ने कहा ।"

"··· ··· ···और तब मैं पुनः पृथ्वी से पर्वत की उच्च श्रेणी पर जा पहुँचूँगा और तब पृथ्वी–तल पर रहने वाले ये कीड़े मकोड़े मेरी ओर टकटकी लगाये देखा करेंगे । ··· ···और··· ··· ···हो सकता है कि पहाड़ की चोटी पर न जाकर देवताओं के मंदिर में जा बिराजूँ । सब हिन्दू महिलाएं मुझ पर पुष्प चढ़ाया करेंगी किन्तु मैं·· ··· ···"

पत्थर का वाक्य पूर्ण भी न हो पाया था कि कालेज से लौटती हुई छात्राओं में से किसी एक ने उक्त पत्थर को ठोकर मारी और बेचारा पत्थर भनभनाता हुआ बिजली के खम्बे से जा टकराया और चकनाचूर हो गया । हंसती हुए छात्राए आगे बढ़ गईं । राही पत्थर के निकट पहुँचा जो अब कई छोटे छोटे टुकड़ों में विभाजित हो चुका था । धीरे से पूछा—"क्या हुआ भाई तुम्हारा यह क्या हाल हो गया है ?"

उन पत्थर के छोटे २ टुकड़ों से एक रोनी सी आवाज आई ।

"मन्दिर में पहुँच कर देवता बनने की कामना चकनाचूर हो गई । अब तो पुनः धूल के रूप में परिवर्तित होने में ही श्रेय दिखलाई पड़ता है । इसमें अब जाने कितना समय लगे ।"

दयार्द्र राही पत्थर के उन टुकड़ों को उनके गन्तव्य तक पहुँचने में सहायता के उद्देश्य से उन्हें अपने जूतों के नीचे रौंदता हुआ आगे बढ़ गया । ❀❀

❀ माँझी से ❀

[परिव्राजक विष्णु जी विष्णु स्वामी]

विशाल भव भीषण सिन्धु डोलता,
प्रभो कृपा की पतवार धार लो,
दे पूत पादाम्बुज का सहारा—
हे नाथ मेरे ! मुझको उबार लो । १ ।
असार भौतिकता के प्रवाह में,
आसक्ति के अम्बोदधि अथाह में,
मनुष्य के जीवन–पोत को, प्रभो !
निषाद हो के सत्वर सम्हार लो । २ ।

रात उजाली, दिन अंधेरा

[काशीराम अग्रवाल, तिनसुकिया, आसाम]

मोह रूपी निशा में भाँति-भाँति के स्वप्न देखता हुआ मानव कभी हँसता, कभी रोता, कभी दुःख से पीड़ित हुआ बड़बड़ाता है और उन्हीं सुखद एवं दुःखद स्वप्नों से युक्त अपने जीवनतरिणी द्वारा वह इस अनन्त, अथाह भवसागर को पार करना चाहता है । काम करते करते हाथ नहीं थकते, बातें सुनाते सुनाते उम्र व्यतीत हो गई । तनिक से लाभ में संसार सज उठा; तनिक सी जीत में निशान बज उठे, रंक से राजा बन बैठा । किन्तु दिन सदैव एक समान ही नहीं व्यतीत होते, पवन सदैव अनुकूल ही नहीं रहता । हँसी के पीछे ही रोदन की ध्वनि छिपी रहती है, जिसे कोई देख नहीं सकता है । लाभ के साथ ही हानि लगी रहती है, जिसका किसी को आभास नहीं मिल पाता है । परन्तु अन्तर दोनों अवस्थाओं में केवल इतना सा ही रहता है कि उसमें मानव विहँसता हुआ बेसुध रहता है और इसमें रोदन के मध्य वह एक चेतनता का सदैव अनुभव करता है जिसे 'सुख' कहते हैं ! किन्तु दिन के उजाले में ही भला किसी ने सर्प के फण की मणि को पाया है ? बिना धूल को हटाये भी किसी ने हीरा पाया है ? बिना अँधे हुए क्या कोई सदैव का उजाला पा सका है ?

परंतु यह संसार का इस पार है ! उस पार जाने के लिए केवल अपने विचारों के विकार मात्र के ही त्याग की आवश्यकता पड़ती है । किन्तु उसे उस पार जाना चाहिये, उसे पार जाना है और वह वहाँ पहुँच कर ही विश्राम लेगा, ऐसी प्रेरणा जब मानव के अन्तर में जाग उठती है तो उसका संसार ही परिवर्तित हो जाता है । वह कबीर की उलटवासियों के सागर में तैरने लगता है । रात में उसके लिए प्रकाश की उत्पत्ति होती है ! दिवस का उसके लिए अवसान हो जाता है, तब वह मोह रूपी निशा से जाग उठता है और तब "एक पाँव चल रहा अलग–अलग, दूसरा किसी के साथ है ।"—ऐसे ही गान को गाने का वह आदी हो जाता है ।

संसार को वह स्वप्न समझने लगता है। रात्रि उसके लिए दिन के समान उजाली व दिन उसके लिए रात्रि के समान अंधेरा हो जाता है। रात्रि को ध्यानावस्था रूपी यान में बैठ कर सात समुद्र के उस पार वह प्रियतम से मिलने चला जाता है और दिन होते ही बेमन से संसार के कार्यों में लिप्त हो जाता है। प्रेम में दीवानी मीरा भी कितना सुन्दर कहती है :—

रैन भई तबही उठि जाऊँ, भोर भए उठि आऊँ।
मेरी उनकी प्रीति पुरानी, उन बिन पल न रहाऊँ।"

रात्रि के उजाले में वह साधना एवं उपासना में प्राणों को खींचता हुआ दूसरी दुनियों में जागता है। अपनी प्रति श्वाँस का बलिदान देता हुआ ईश्वर रूपी सूर्य के समक्ष अपनी एक-एक श्वास का हिसाब देता है। बल्कि श्वास को भी अपने में से घटा देता है। तब क्या होता है —

"तन थिर, मन थिर, सुरति थिर, थिर भयो सकल शरीर।
ताके पीछे हरि, फिरैं कहत कबीर कबीर ॥"

मस्ती का आलम उसके हृदय में समाया रहता है। उसे न भूख सताती है और न प्यास। और तब वह सोचता है—रात्रि क्या है ? दिन की परिभाषा क्या है ? रात्रि एवं दिन पृथक-पृथक वस्तु हैं या केवल कहने मात्र का ही अन्तर है ? उजाला अथवा अँधियारा क्या यह दोनों केवल मानव का भ्रम मात्र ही तो नहीं है ? क्योंकि उस योगी के लिए गृहस्थाश्रम भी बंधन नहीं वरन् मोक्ष का ही कारण बन जाता है उसकी मनन-शक्ति का केन्द्र सद्गुरु की आलौकिक शक्ति--भंडार ही हो जाता है जो कि ऐसा चुम्बक है कि उसे बिना अपने से चिपकाए चैन नहीं लेने देता है संसार में रात्रि के उजाले में अपना ब्याज चुका कर उसका केवल 'मूल' से संबंध रह जाता है जो स्वप्न उसे सत्य प्रतीत होता था वह झूठा हो जाता है। सद्गुरु रूपी माता पृथ्वी रूपी खाट पर आसमान रूपी चादर के नीचे अपने बालक के ऊपर से इस आसमान रूपी चादर (कालिमा के पर्दे) को हटा कर जगा देती है और वह योगी प्राणायाम रूपी शौच से निवृत होकर स्नान के लिये प्रेम रूपी जल भरने लगता है। उसके द्वारा वह बेगुनाह अपनी मंजिल पर क़दम रखते ही स्वप्न, जाग्रत एवं सुषुप्ति अवस्था

से भी शनैः शनैः उपराम होता हुआ जीवन-मुक्ति के पथ पर अग्रसर होकर सहज गति में समाता जाता है। उस रात्रि के उजाले में वह सुदृढ़ योगी अपनी कथनी, करनी एवं रहनी रूपी पुष्पों का हार गूँथ कर अपने सर्वस्व पर न्योछावर हो जाता है। जाति-कुजाति, स्त्री-पुरुष इन सारे भेदों को वह रात्रि के उजाले में अपने इष्ट के सम्मुख बिखेर कर स्वयं स्वतंत्र हो जाता है। दिन के अँधियारे में उसका प्रियतम उसे सहारा देकर मधुर स्वर में कहता है—"प्रिय, जाग जा। आलस्य का आँचल मुख से उतार कर टुक निहार कर देख, अब पौ फट रही है। जिसको तुम बिहाग के स्वर समझते हो वे भैरव के हैं।" और रात-दिन, अन्धेरे उजाले की सन्धि बेला में उसे जगद्गुरु योगेश्वर कृष्ण की वाणी अन्तरिक्ष में तैरती सुनाई पड़ती है:—

"या निशा सर्व भूतानां तस्यां जगर्ति संयमी,
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

❀ ❀ ❀ ❀

कुछ अभ्यासी सहज मार्ग की साधना पद्धति को अपनाने से पूर्व एक अन्य गुरु से दीक्षा ग्रहण कर चुके थे। श्रद्धेय बाबूजी से उन्होंने निवेदन किया कि वे सहज-मार्ग की साधना प्रारम्भ तो करना चाहते हैं किन्तु अपने पुराने गुरु का परित्याग नहीं करना चहते।

पूज्य बाबूजी ने उन्हें समझाया "ऐसी बात है तो गुरु चाहे जिसे मानो। मुझे अपना सेवक समझकर मेरी सेवा ग्रहण करते चलो। असल मतलब तो तुम्हारी आध्यात्मिक उन्नति से है।"

अपनी बात को अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने बतलाया "आध्यात्मिक शिक्षा—और किसी भी शिक्षा में—पथप्रदर्शक के साथ भावात्मक सम्बन्ध (Emotional attachment) का बहुत महत्व है। अब रिश्ता कोई भी ले लिया जाये, उसे निभा ले जाना शर्त है।"

—❀❀❀—

पहेली

[कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी 'सन्ध्या' लखीमपुर--खीरी]

सखि, हौं बूझत तोहि पहेरी !
यह जग कैसो बरत देखियत ? संगी कोऊ न सहेरी ! १॥
धुंध छई जग, कछु नहिं सूझत, देखि न परत अहेरी !
प्रेम–कमान विरह–शर छाँड़त, तानि सुरति की डोरी ! २॥
चलत फुहारे अमित रँगन के सब जग खेलत होरी !
सबद–सनाह न भीजन देवे, रहि कोरी की कोरी ! ३॥
कौन देस धौं पीव बसत है, सपन न आवत नेरी !
साँचे दरसन के अभिलाषन, 'संध्या' बिलखत बौरी ! ४॥

—:❀:—

स्तोत्र

यत्रैव यत्रैव मनो मदीयं तत्रैव तत्रैव तव स्वरूपम् ।
यत्रैव यत्रैव शिरो मदीयं तत्रैव तत्रैव पदद्वयं ते ॥
(जहाँ कहीं मेरा मन हो, वहीं तुम्हारा स्वरूप हो
जहाँ कहीं मेरा शिर हो, वहीं तुम्हारे दोनों पैर हों)
[Wherever my mind, there be your form ;
Wherever my head, there be your feet.]
—Shri Shankaracharya

Effective way to realisation

(Shri Ram Chandra Ji, President S. R. C. Mission)

People generally complain of busy-ness as a hindrance to Sadhana. There is a saying, "The busiest man has the greatest leisure." In my opinion a man has always got more time at his disposal than that required for the work in his hand. Service and sacrifice—these are the two instruments which help in building the temple of spirituality on the foundation stone of love. Any kind of service may be useful, if done selflessly; but here the word-service, I am speaking of, carries the sense of worship. We should be as busy with this kind of service, as we are busy in our daily routine. The easier way to have an access to it is that any kind of service we do, should be thought of as the order of God, regarding ourselves to be in duty bound for it. Remember that all we have in this world has come from God. All the fellow creatures are His creatures. That means He is the master of them all and we are His children, never mind if a few are brought up apparently by you or me. If we serve our Master and His children too, thinking that they have come from Him, we are in a way non-attached to them, because the chain of attachment really joins our Master with His children. If this thing is rooted deep in us we will indulge in service as our duty and remember the Great Master at each step. In this way the habit of constant remembrance is formed.

The goal of life is easily reached if we are devoted to it, having the idea of our Great Master

all the way through. There are different ways of remembering Him constantly. Some of them have been briefly described above. By devotion to the highest, we establish a channel from Him to ourselves that serves as a path to Him. When this path is clear of all dirt and refuse, there will be no difficulty to tread on it. The more we devote ourselves, the clearer is the path. While meditating on Him you receive a push from the heart to impel you on the path. The dirt and refuse are our conflicting ideas When you meditate and if you secure even a temporary lull, it means that you have gone a step further on the path. As you proceed on your way to the path, you will find the conflicting ideas disappearing. And if you acquire a state of permanency in your meditation touching the innermost plane, the idea of God becomes quite close to you.

There are various ways for the realization of God, each suited to the peculiar instinct and mentality of an aspirant. A man of a lowest standard can not give his mind to meditation. His solidity will catch only the solid thing; for instance, those who have not gone far, will like to worship the image, taking of course the 'Bhava' (Idea) of Almighty. The lowest among them will think of the image itself as God. If they improve and go a bit higher their mind may be distracted from the solid images, and they generally begin to perform what is known as "Mansik" (Mental) worship. This 'Mansik' worship, as I have heard of it, consists in taking Ram or Krishna or Shankar etc., (as represented in the image) before the vision of the mind. Then such aspirants garland them and apply sandal

paste to them in their thoughts. All such aspirants become idol worshippers with no idea of God, because they will thus create solidity in dead form. I don't allow such kind of worship in our Sanstha (organization). We always soar higher and are above these kinds of worship. There is one great drawback in idol worship that it becomes their life long interest and they do not want to part with it, thus creating a sort of solid block in their own hearts which is not easily breakable even by the force of their Master's will. We should come from solidity to the finer state and the method must change accordingly. The image worshippers get confined to the same effigy.

God is very simple and plain. He is not in solid form. He has no solidity whatsoever of any kind, He is free from all these things. So, in order to realize Him, we should adopt such methods by which we may be able to free ourselves from things created by our own will, actions and surroundings. All our thoughts should be regulated and our individual mind should be cleared of the burdens lying on it. We should be as light as cotton so that we may start on our flight towards Him with the help of a single push from a capable master. The best way of acquiring this state is to take the Reality for good in one's heart. In our Sanstha the Reality is infused at the first stroke of will, which serves as a seed to flourish in the long run. The process is generally set in by one's Master so that the seed may grow easily and scorching winds may not blow it up. The disciple waters it by constant remembrance which is the only thing needed for the speedy progress on the path of realisation.

We should always go with speedy steps without resting even for a while, until the goal is achieved. When a man has found the right path, he should not be away from it at any cost. One should tread on it with faith and devotion. Then all sorts of worship, besides what he is told by the Master, should be given up and treated with indifference. If the aspirant begins finding himself lighter and lighter it means that he is progressing, because in that case he is going into the state that God is in Light means the loss of the weight of one's own thoughts. To remove them, what we generally do is to think that they are all from the side of God whether they are in the form of difficulties and anxieties or in any other form. The best way is to treat them all as coming from Him. This is also one of the ways of constant remembrance, which is the only thing helpful in bringing about improvement in the spiritual line.

—From a letter to an Abhyasi.

Prayer-a boon to humanity

(**Shri Raghavendra Rao, Gulburga, Mysore.**)

Ages ago King Vishvamitra devoted himself to penance and became a Rajarishi. He earned many powers—of creation and destruction. He could get anything he wanted. Still he felt there was something lacking in him and this made him quite restless. His long-cherished and secret desire of being called a Brahmarishi by sage Vashistha had not yet been fulfilled. He again and again urged Vashistha to tell him the Arch secret. But Vashistha remained calm and quiet, and asked the Rajarishi to find it out himself.

One day all of a sudden Vishvamitra saw in the great sage something which he had been pining to see. In a moment all his doubts vanished. The tumutous lake of the mind became calm and still. Then he felt a sort of a rippling movement of thought in his mind. The vibrations assumed the form of words and overflowed in a metric form. He began to sing–

ॐ भूर्भुवः स्वः, तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि,
धियो यो नः प्रचोदयात ।

(Om Bhurbhuvahsvah, Tatsaviturvarenyam
Bhargo devasya dheemahi dhiyo, yo nah
prachodayat.)

This prayer brought forth a spontaneous exclamation from Vashistha, "My Bramharishi, My Vishvamitra." This was the prayer that revolutionised humanity by turning over a new leaf in the history of Vedic–Civilization.

Thousands of years rolled past. The Gayatri-Prayer of Brahmarishi Vishvamitra gradually lost all its original meaning, purpose and appeal to the minds of the men of the age of reason science. The prayer assumed mysterious forms; idols of Gayatri were developed and, the prayer came to be used for various ulterior purposes; the real goal was lost sight of.

Once again a sage of the highest calibre grew greatly concerned about the welfare of humanity. He started pondering deeply over the correct meaning form and method prayer; and as he dived deep into the highest state of super consciousness, the vibrations in the lake of his mind rippled forth in the form of the words:—

"O master, ye are the real goal of human life. We are yet but slaves of wishes putting bar to our advancement. ye are the only God and power to bring me upto that stage."

And the method of the prayer followed:—

"Before going to bed, devote sometime to prayer, sitting in a suppliant mood. Repeat the words once or twice in your mind. Then begin to meditate over its true sense; and then try to get lost into it."

The modern scientific civilization laying emphasis on the goallessness of human life and on the endlessness of individuals desires has filled man with selfish egoism to the brim. The prayer provides for the essentials required to remove the lop-sidedness of our civilization, which, if allowed to persist, may endanger the very existence of humanity.

Sahaj Marga in outline

Issued by Publications department,

(Shri Ram Chandra Mission, Shahjahanpur U.P. India)

Great men are not accidentally born. They are born when the world needs them most. Such is the course of Nature. The present life of gross materialism is leading the world to a state of degradation and decay. Selfishness, prejudice and vanity are the main features of present day life. Morality is tottering hopelessly. Irreligiousness is gaining ground in almost every mind. Ungodliness is rampant. Clouds of ignorance and sin are covering the whole atmosphere. Under such circumstances the great Divine Soul appeared in the world in the form of Samarthaguru Mahatma Ram Chandra Ji of Fatehgarh, inorder to save and guide humanity along the path of Reality. This great spiritual Genius was born on February 2, 1873, the auspicious Basant Panchami day. His Life marks the advent of a new spiritual era. Through his efforts the well known system of Rajyoga which had hitherto become quite obsolete and neglected for centuries, was brought to the light of the day. He was the first man to re-introduce the long forgotten system of Pranahuti (Yogic transmission) which had been the very basis of Rajyoga. The MISSION named after this great personality was founded in 1945. by his successor and representative of the same name, Mahatma Ram Chandra of Shahjahanpur, at the earnest request of some of the disciples and associates of the Samarthaguru. The main purpose was to fulfil the sacred mission of the Master and to serve humanity in an organised way. Since then the Mission with

all its limited resourses has been doing its best to serve spiritually the down-trodden masses, wading through the mire of ignorance, attachment and vanity.

The Object The Mission aims at the spiritual uplift of humanity in general, without any distinction of religion, race or nationality, in accordance with the need of the time and the demand of Nature. The solution of all the various problems of the world lies in the spiritual regeneration of mankind, which can be brought about only through proper spiritual training. Our close adherence to the grossest material form of living is in fact the real root-problem. If it ends, all other problems are solved in a moment. It can end only when we take up the spiritual ways of living. Spirituality is in fact our march from the present grossest form of existence to higher and higher planes of Subtle-ness. To achieve that eternal and unchanging state of Subtle-ness and to abide in it permanently, is the final aim of the Mission.

The Method The system followed in the Mission is known as Sahaj Marga or the natural path (of Realisation). It is in fact the well known old Rajyoga, remodelled and amended, so as to suit the need of the time and fit in closely with the normal worldly life of today. The method prescribed under the syatem is the simpiest. God is simple, so must be the means for achieving Him. The most efficient method can be only that by which one may begin to imbibe as much of the godly attributes in him as possible. Through this system even the most degraded of the human beings have a fair chance of throwing off their polluted coverings in an instant and advance with amazing speed on the

path of Freedom. The process followed is also quite simple. Practices prescribed are practically none, except meditation under the guidance and support of a perfect Master. There are no rituals or ceremonials. Dos and Don'ts there are few. It is a practical process of 'give and take' or 'do and feel' and not merely 'read and enjoy' ! There is in fact nothing in it to believe or disbelieve, but every thing is quite plain and simple to be experienced practically by anyone who likes. It favours none of the formal exercises involving austerity and penance nor any forced appliance of the methods of restraint or denial. It does not enforce the adoption of a secluded life of asceticism in the safron robes of a sadhu. The common notion that a worldly life is an obstruction in the spiritual pursuit is absurd and unnatural. What is to be done is only to transform the worldly life in such a way as may give it a spiritual tinge all over. This can be done very easily only if we take up every thing in the sense of duty and not for the sake of self-interest or for the satisfaction of the desires.

Pranahuti In the present age of degradation in all phases of human life, physical, social, moral and spiritual, it has become almost impossible to keep up the normal standards of Truth and Righteousness, taught by the religion. The simple reason that can be attributed to it is the diversion of mind towards materialism of the grossest type. All that we have, therefore, to do is to turn the tendencies of mind, which is running off the rails, towards the right channel. This is the only purpose of all the Sadhanas and practices that are undertaken

ken. But unfortunately the Sadhanas prescribed for the purpose are mostly mechanical, dealing only with the physical aspect of things. Hence they are not of much avail. Besides the methods of austere repression and forced restraints, applied for bringing the mind under control, seldom prove successful, for they cause reaction which is often impossible to overcome. This is the reason why inspite of all the teachings and preachings of the learned teachers of religion, the masses are still wading deep in the mire of ignorance without any hope of emancipation. The only method by which the transformation can be brought, is the proper moulding of the mind of the people in general. For this the really effective means is but the Yogic process of Pranahuti (Tansmission) which has been the very basis of Rajyoga eversince. It is a yogic science by which the Master, through his own psychic powers awakens the dorment intuitional forces of the Abhyasi for the proper moulding of the mind in the most natural way, removing all complexities and obstructions therefrom. The great ancient sages of India utilised this wonderful power for the spiritual uplift of the people, and there are numerous instances of the same found in our past history. But due to the present degradation this noble science has been relegated to complete oblivion; and today but a few perhaps might feel inclined even to believe it. They are better acquainted with the baser arts of telepathy and hypnotism, which appeal more to their materialistic understanding and consequently they are led to interpret it as nothing more than hypnotism, without perhaps having any

substantial idea of either. To elucidate the wide contrast between the two, I may briefly say that hypnotism deals mainly with the material forces in a man, whereas this Yogic process relates to the finer powers of prana, pertaining directly to the soul, without the least touch of matter in it. The effect produced upon the object's mind in each case is also widely different. In the former case the will and intelligence of the object is completely shattered and he acts like a puppet in the hands of the master; whereas in the latter case, the will and intelligence of the Abhyasi grows wonderfully stronger. His power of soul gets awakened and he begins to feel peace and lightness althrough. In Sahaj Marga the impulse is imparted through this very process of Yogic Transmission (Pranahuti). This is one of the greatest specialities of the system, which enables a common worldly man to rise upto the highest level of spiritual attainment, in a wonderfully short time and in the easiest possible way. The practical results achieved through the process, offer sufficient proof of the efficacy of the system; which every one is quite welcome to try and experience personally.

How the system works The divine impulse, imparted through Pranahuti affects the mind of the Abhyasi and helps to bring it to a somewhat higher state of consciousness, with the result that he begins to feel an inner awakening. The tendencies of mind begin gradually to turn more and more towards the Divine and he begins to feel comparatively calm and peaceful. This is the first step in the spiritual training under the system.

Now the impulse thus imparted begins to act upon the deeper layers of consicousness related to the finer forms of existence. Ordinarily the conscious mind is not touched at all in the beginning, except in certain special cases where it is absolutely essential. The effect of the impulse is implanted on the causal body (Karana Sharir), creating godly impressions thereon. These impressions in the form of tiny seed begin to develop for Bhoga. Soon the process of Bhoga begins automatically with the result that the effect begins to expand; and after some time it expands over thc astral mind. From there it comes down to the conscious mind, which begins to get moulded accordingly. It is generally at this level that an Abhyasi/ begins to realise some subtle changes in his inner tendencies. This is why often an Abhyasi is unable to feel any effect of the impulse for some time in the beginning. But the effect produced in this way is deep rooted and permanent, because the process being centrifugal, the effect proceeds from the centre to the circumference. The moulding of the mind thus goes on in the most natural way with out any physical labour or mental strain. By continued meditation, consciousness of the mind is achieved and the conscious mind becomes merged in it. This develops in him an automatic sense of discrimination between the Real and the unreal. Consequently we begin to lose charm of the changing objects of the material world and get more and more firmly attached to the Reality at the root. This means the beginning of the state of Vairagya. Vairagya in the sense of forced physical detachment from the world is unnatural

and devoid of true sense. Sahaj Marga does not support the imposition of assumed physical dissociation as the true form of Vairagya. In fact it relates only to the absence of the feeling of undue attachment (Maya and Moha) with the worldly objects connected with in life. It does not mean non-possession or the consequent exemption from duty in connection with self, society and the world. When we are relieved of undue attachment our actions in respect of worldly affairs assume the form of duty. Duty for duty's sake without attraction or repulsion is the highest form of devotion. The state develops automatically from within as one proceeds on with meditation under the right guidance. This, though not an ordinary achievement, is but one of the elementary attainments under the system. Desireless-ness is the direct result thereof and with it the formation of new Sanskars begin to decrease and finally come to a stop. The stopping of Sanskars means freedom rebirth. We are thus free from the endless circle of birth and death. But this is not the end. The spiritual march continues still, but that being a long subject is not taken up here.

The Teacher's Job It is by far the most important factor of a spiritual life. It is especially so in Sahaj Marga where the entire responsibility of success rests upon the teacher, when the Abhyasi has submitted himself to his charge with will, faith and confidence. The selection of a worthy guide is therefore the most vital point in this respect. But for this, it is essential to have a clear understanding of what one finally aims at. People take different

views of the final approach in accordence with their own conceptions of Reality, and they find guides of the standard they crave for. But, for the person, taking the path of spirituality with the object of gaining one-ness with the Infinite Absolute, the guide too must be one of the highest calibre, who is capable of exercising his own psychic powers th-rough Pranahuti for the uplift of others. In fact highest spiritual attainment is rarely possible, unless it is supported by a true guide through the Yogic Pranahuti. It rests entirely upon the calibre of the guide to regulate properly the working of the inner forces of the Abhyasi towards the right channel. In short it is the teacher from whom the true Divine impulse comes to the Abhysi. It is he who awakens and accelerates the dorment intuitional forces of the Abhyasi ty action towards the proper regulation of the mind and senses It is he and he alone who removes obstructions and complexities from his mind and foments him all along on the path with his own power. Such a one we have to seek for if ve really aim at the highest.

× × × ×

Once in a gathering of Satsangis a discussion on the impediments of the work of the Master was going on.

The master said, "I am like a carpenter who has to make things after a certain design. But mv difficulty is that I do not get wood but furniture, on which to work. The furniture, even if 1 break it up, can hardly be remodelled into a perfect design. So, one has to be contented with making slight alterations here and there."

Function of the Guru

[Shri A. Balasubramaniam, Tirupati–Andhra]

Great teachers have appeared on earth from time to time and in different parts of the world. A few of them have been accepted as incarnations and universal gurus. The great spiritual personlities who were accepted as universal gurus, demonstrated to the world the ideal of teaching. Among these Lord Shivji in the name of Dakshinamurthy was the first one. He was silent without speach. His disciples were Sanaka, Sanandana Sanatana and Sana-tkumara. The silent guru taught the dcisciples only by the process and force of transmission.

As time went on, at the end of Dwaparayuga, Lord Krishna came into the world to destroy Adharma and stabilise Dharma. He is universally recognised as a great guru. He gave the immortal Gita to the world. The Gita we have today contains eighteen Chapters. The entire thing was said to have been taught to Arjuna at the battlefield where opposing armies in full battle array were ready to plunge into a deadly fight. Lord Krishna taught Arjuna in a trice, by the process of yogic transmission. In yoga one transcends time and distance. As Lord Krishna transmitted the truth of Gita, Arjuna actually went through all the stages inwardly. As very rightly interpreted by our revered Master, the Gita availa-ble today with us is but "a commentary on what Lord Krishna spoke to Arjuna" at the battlefield of Kurukshetra.

These two outstanding avatars, whom all the

world acknowledges as Jagat Gurus have demonstrated to the world that Vidya (including Brahma Vidya) can be best imparted only by the power of yogic transmission. In recent years Shri RamaKrishna Parmhansa is said to have transmitted his powers to Swami Vivekananda for carrying on his mission in the world. This process of transmission is an outstanding feature of the system of education in our Bharatkhand. By means of this process, the aspirants (Abhyasis) are helped to reach higher stages of consciousness and ultimately attain the liberation of soul. This is the method adopted in our Mission.

A Sadguru of high calibre is extremely subtle and very closely connected with God, who is the Guru of Gurus or Master of Masters. The Guru in physical form is but a medium between the Supreme Master and the aspirant. An incident or episode in Mahabharata will be helpful for better and clearer understandirg. Let us refer to the story of Ekalavya.

The episode of Ekalavya is quite significant. Guru Drona refused to take in Ekalavya as his disciple for some reason. But Ekalavya insisted on getting 'Dhanur-vidya' taught by Drona himself. The refusal of Drona did not deter him. He was of a subtle mind and understanding. He installed an image of Drona and prayed fervently to the Supreme Lord through 'Drona-bimba' The response came. Secrets of archery started being revealed to Ekalavya. He mastered even some of the closest secret instructions of Drona to Arjuna which Drona in human form denied his having taught to any one else. Drona

in human form had absolutely no idea of his counterpart in the form of the image performing all his functions elsewhere. How could this be explained ? When knowledge is sought earnestly from a person, The Supreme Guru begins to act through that person. The disciple derives all the attributes that the guru has. Drona was only a great archer and not a yogi. A yogi being very subtle becomes conscious of the passing of a divine power through him. This consciousness not being in Drona, he was not aware of the tuition, Ekalavya was getting through his image. How God transforms Himself according to circumstances and environments is very well depicted by a great Tamil Poet and saint 'Pattinathar'. He says, "Pure water which is tasteless, odour-less, colour–less etc,. adopts itself to the land on which it falls and takes in all the qualities of the land like sweet, insipid, black etc. In the same way God stays in the 'Apakva and pakva (ripe and unripe) jeevas".

There is yet another important fact about a Guru which a true aspirant has to bear in mind. During the course of one's jeevayatra, i. e., in one's life, his one object must be to reach the highest stage of evolution, from which there may be no return to the mundane life. For this a Sadguru is required, whom the aspirant adopts after due consideration. This Sadguru becomes a representative of the Great Divine Master. World is full of changes and we are one in it. We too aspire for a change to the higher.

The function of the Guru is that of a Guide in this march to the Absolute state of consciousness.

He is indispensable, but only so far as he takes an aspirant forward on his journey to the Subtle point of human possibility, from which there is no fall.

—❀❀❀❀—

Once a great scholar of Indian Philosophy came to the master, and the discussion on the causes and cures of human bondage and suffering started.

The scholar pointed out that the greatest positive cure of all suffering and bondage was the experience of the Bliss, which transcends the pleasures of sense and intellect.

The master immediately intervened, "Bliss itself is a bondage. The real cause of bondage is attachment, wherever it may arise."

He gave his own concept of the Destination:—

Where Religion ends, Spirituality begins,
Where Spirituality ends, Reality begins,
Where Reality ends, Bliss begins,
Where Bliss ends, the Destination of
Nothingness begins."

The Mahabharata

Shri R. B. Lal E-x P. V. C. Hindu University Varanasi

This encyclopaedia of Hindu Religion, Philosophy and mythology was apparenty compiled at the beginning of the Christian era, as it contains references to Yavanas, Huns etc. who invaded India about that time. For centuries, Sanatanists have looked upon it as almost historical, and it is only recently that different theories have been advanced. Perhaps the most violent attack was by Swami Dayanand, who thought that it was nothing short of absurd to suggest that the Creator of the universe should enter the womb of a woman for the annihilation of His own creatures i.e. Daityas and wicked rulers. He tried to destroy with one stroke the edifices, which the Hindu Revivalists had reared in the Epics. Worship of Shri Rama and Krishna was unknown in Vedic times, and it is quite a plausible thory that the Great Epics were written with a view to combat the popularity of Buddhism and Jainism with their ceremonies connected with idol worship. By denouncing the possibility of Divine incarnation, he tried to demolish the teachings of the Puranas, and to bring his atherents "Back to the Vedas".

In 1931 a Madrasi gentleman published a book in which he maintained that (a) Tamil is "The parent of all the modern languages of the whole world" and is known to Philology as Primitive Semitic Babylonian–Phoenician or Egyptian (b) the Ayyangars are the direct descendants of Pyramid–building Pharaohs (c) Krishna was born on the bank of Nile (d) The Vaishnavite Namam appears not only on the faces, arms etc. of Pharaohs, Egyptian High Priests but also of Jesus and Mary and finally (e)

that to understand the correct meaning of the Bible and the Qoran one must read them as if they were originally written in Tamil. Apparently these views were not accepted by other savants, but that should not detract from the time and trouble which this gentleman took to establish his pet theories.

A Sindhi gentleman has been even more painstaking and has tried to unravel the "Mystery of the Mahabharata" in five volumes. His theory is that it is an allegory and instead of a bloody war represents peaceful discussions between the adherents of the various schools of Philosophy. The Kauravas were Buddhists throughout, but the Pandavas rose from Atheism (Jain Digambaras) to Vaishnavism. The charge of Polyandry against Draupadi is baseless. as the "Pandava brothers represent five parts of one man. Yudhishtra represents Buddhi, centred in the crown of the head, Bhima is mind, centred in the brows, Arjuna is vital Breath or Prana, the instrument of action and the vehicle of the soul..... etc." The greatest opposition lies between Jainism and Buddhism combined on the one hand and Vaishnavism on the other. These correspond to Sankhya–Nyaya-Vaiseshika and Vaiseshika-Yoga-Vedanta respectively, and so have their points of contact as well as-conflict. This is the idea of the Battle of Kurukshetra in the Mahabharata and this completes the ascending scale of thought for man rising from Jainism to Vaishnavism. The gambling match is really a discussion between Yudhishtra and Sakuni, who represents Jainism, The former loses everything as he is not permitted to assume the existence of God, nor is he allowed to make use of the idea of

sacrifice to prove his point. The attempt to "expose" Draupadi in the Sabha of the Kaurava king is nothing but a debate on the nature of sacrifice. Draupadi is not fit to enter the Assembly–Hall, because the very idea of God, embodied in sacrifice is excluded from the debate. The attempt to disrobe her represents in symbolical language that sacrifice has nothing to do with the idea of God. But in as much as sacrifice does embody the idea of God, Draupadi remembers Krishna, and the attempt to disrobe her is frustrated.

There is no doubt that the Mahabharata is full of mysterious events, which cannot be accepted as natural. One has only to mention the accounts of the birth of Bhishma, Karna and the Pandavas, the five, years residence of Arjuna in Indraloka and the delivery of the Gita on the Battlefield, while the contending armies were impatiently waiting to begin the strife. It is doubtful if Sanatanists will agree to treat the book as a mere allegory, but these conflicting views establish the necessity of research into the origins of our most respected books. Their message cannot be appreciated unless we know the backgound and the author's mind.

❀ ❀ ❀ ❀

Once in a gathering of Abhyasis, the problem of idol-worship was being discussed. Somebody put in, "If the formless Being is all in all, there can be no harm in treating the idol as the same".

The Master intervened, "The clay–model is clay. But the clay is not the clay-model".

Elaborating his point, he quoted Swami Vivekanand, "God may be seen to be in the idol. But the idol is not to be treated as God".

The Experiences of an Abhyasi

[Under this permanent column, transfered from Hindi Section, the personal experiences of the Abhyasis of our system of Sadhana are to be published one by one. The names of the Abhyasis, however, will not be published with a view to exercising a check over the natural tendency to indulging in self–praise while giving personal experiences. The Abhyasis are requested to try to emphasise only such matters and events, while writing for this column, which may be helpful in throwing light on the special characteristics of our system of Sadhana. —Editor]

I had a certain vague fascination for Yogic Sadhana from early childhood. At the Intermediate stage of my education a revered teacher of mine used to make casual references to Yogic practices and attainments in the class occasionally; and I wondered why this ancient branch of practical study should remain shrouded in mystery even in this age of systematic education and scientific research. Of course the revered teacher ridiculed the idea by pointing out that Yoga was different from subjects like Politics and Economics. On coming into contact with the methodology of sciences and the realistic trends influencing the course of modern human civilization, at higher stages of my education, I developed a distaste for religion and all sorts of mystification. But the conviction that Yogic Sadhana is sure to make a great contribution towards the evolution of a new culture of humanity, however, persisted unconsciously; and, critical, Sceptical and unsophisticated, I yet waited for an opportunity to learn first hand what this ancient system of practical training should mean after all.

There was, however, very little searching about or running after this and that Sadhu or Fakir. As a matter of fact they aroused a sort of disgust in me. I, no doubt, read a few books, but I found them full of nauseating mystifications in the absence of practical experience. Intellectual interpretations could certainly bring a satisfaction to some extent, but to me they appeared to suffer from a limitation in so far as they did not tell us what the system of experiences consisted in originally. Through intellectual interpretations, it seemed, we impose rather than understand. Under the circumstances, I had the only option to keep my mind open and wait for a suitable opportunity, whenever it would arise.

I was told about Shri 'Babu Ji' by a close friend of mine, who had been in touch with him for some time. I just went to meet him, when he happened to come to my town. At this very first meeting, I found there was nothing impressive, in particular, about him, and yet there was something undescribably attractive and assuring that created a kind of confidence in me; and I made a request to him to accept me as his student. The same evening I received for the first time what is technically called a 'Sitting' through the revered preceptor and trainer running the branch of the Mission in my town. The next morning Shri 'Babu Ji' himself gave a 'Sitting'. In the evening there was a good gathering of Abhyasis, and the master was talking to them. Suddenly he started the Sitting, and the sensitive Abhyasis, even without being told to do so, started meditation

(Dhyanam). I, being a novice, did not know what to do. My eyes met with those of the master and automatically got closed. Then I began feeling a pleasant tickling ringing sort of sensation starting somewhere at the middle point of the longitudinal fissure dividing the two hemispheres of the cerebrum, and running downwards along the spinal column. After this sitting, I felt a bit lighter and happier; and my attachment for and curiosity about the system of Sadhana started increasing gradually. About a week later I experienced a sort of sleep while sitting in meditation before the preceptor of the branch of the Mission in my town, and was told that it was the crude initial stage of Samadhi. This sort of a deep unconsciousness continued even while practising the prescribed meditation all alone. But the depth of sleep went on decreasing while the experience of lightness and pleasantness during and after such periods of meditation went on increasing gradually. Occasionally pressures, throbbings and something like a pleasant passing of an electric current in different regions and at various points of the body continued to be experienced.

On the mental side the experience of a temporary suspension of the ordinary states of consciousness becoming gradually habitual, has been found to produce peculiar results. On the emotional side the experience of a tensionless calmness in the face of agitating circumstances has been found to be growing finer and finer. The state of a blissful mental silence experienced during meditation may well be desired to be a permanent feature in the life of any individual; and a community of such individuals

may well be a soothing dream of the future of a civilization threatened by the neurosis of endless and conflicting ambitions, so common in and characteristic of the modern times. Such an emotional composure in its own turn has been found to bring about a pulling down of the inhibitions to the freer activity of the intellect, resulting in a kind of downpour of brilliant ideas and insightful solutions of difficult problems–both intellectual and actual.

On the whole the practice of the system of Sadhana appears to produce a general gatheredness or integration of the total personality. A kind of a balance begins to develop with the progress of the practice. Once a fellow Abhyasi who happened to be assertive to the extent of rashness and daredevilry pointed out that he had been experiencing increasing mellowness and sobering down of his temperament. Immediately I told him that, of late, I was noting down just the opposite trend in my temperament. I had been submissive to the extent of cowardice and escaping from conflicts and problems so natural to life; and I was experiencing an increasing assertiveness and effectiveness in dealing with the problems of day–to–day life. In fact, to me Yogic Sadhana seems to be concerned primarily to this life and to this world rather than with what may come hereafter. I feel that this ancient system of practical training is concerned in the first instance with the exploration and building up of the Real Human Being rather than with any mysterious entities like 'God' and 'Soul'. No doubt these words are used in the Sadhana literature with profusion, but to my mind, these are the stages towards the

destination and possibilities of the evolution of Man, rather than being any entities inside or outside Him (Man). To my understanding the ultimate object of Realization is nothing beyond the Real Manhood. To my conviction, in laying down the foundations of this practical science of Yogic Sadhana, our great ancient sages contributed more to the glorification and magnificence of the Human Being rather than to the sense of his insignificance before powers, far superior to this puny creature of Nature. Our entire Sadhana literature is an epic of hope rather than a lyric of despair for the future of Man.

But, nevertheless, surrender and not egoistic pride is the route to this Realization of the Real Man or the Real Self, or God, or whatever else we may call It. True surrender is an accompaniment of love for the master, which in its own turn runs parallel to the faith and confidence in the master. There is nothing mysterious in it. In any system of education– more so in a practical training–any ordinary student will find his progress running parallel to his personal attachment with his teacher. However, extreme care is to be observed by a student in bestowing such a personal attachment on a teacher, for in the first place it is difficult to find a true teacher, and secondly the progress of the student will be conditioned by the approach and capacity of the teacher, to whom he gets attached. The real test of a true teacher again is the degree of his own single-minded attachment to his own real object. When I met my master, I was impressed first of all by observing a

complete absence of a personal motive in him. The only force that moves him is the constant consciousness of his pledge to his own master that the grace of the Supreme Master in the form of the 'Sahaj Marga' system of Sadhana should be made available to the commonest human being of the world. As I went closer to the master, I went on getting simply astonished at the degree of his devotion and surrender to the cause of his master. That is an example before us all, and that is the limit of any assertion in this matter. The Sadhana literature asserts that devotion and surrender are lesser a matter of active seeking, and more a matter of passive receiving.

There are no doubt some mysteries too, for example the questions of rebirth and destiny etc. To such aspects I have always assumed an attitude of open–minded indifference. I do not try to give intellectual interpretations to them, as they may be glittering paints rather than real colour; and I do not accept the blind mystifications about them. I simply wait for the proper understanding of their real meaning and significance. There are the difficulties of proper expression also. Introspection is a difficult art in itself; and the unusualness of the experiences demands a terminology peculiar to themselves. To a certain extent every science requires its own terminology. But the technical terms used in our Sadhana literature have become somewhat obsolete and mystical; they require to be understood and defined in keeping with the spirit of the modern trends in human civilization. On the other hand the attitude of dogmatic indifference and hostility of pseudo-scientists

towards what has not yet received the official sanction and stamp of institutionalized science, is highly deplorable and even against the real scientific spirit of open-minded exploration of Truth, wherever It comes.

—An Abhyasi

—:❀❀❀:—

Love,the only ladder to the Lord

Thy Knowledge, man ! I value not
It is thy love I fear;
It is thy love that shakes My throne
Brings God to human tear.

For love behold the Lord of all
The formless, ever free,
Is made to take the human form
To play and live with thee.

What learning, they of Vrinda's groves,
The herdsmen, ever got ?
What science, girls that milked the kine ?
They loved, and Me they bought.

—Swami Vivekanand

वज्रपात

हम अवर्णनीय व्यथा के साथ यह हृदय-विदारक शोक समाचार प्रकाशित कर रहे हैं कि पत्रिका के प्रस्तुत अङ्क का मुद्रण पूर्ण होते न होते २० जून सन १९५८ ई० (शुक्रवार) को दिन के दो बजे हमारे मिशन के अध्यक्ष श्रद्धेय 'बाबू जी' के द्वितीय सुपुत्र दिनेश चन्द्र ने १७ वर्ष की अल्पायु में परीक्षा में असफलता के कारण बन्दूक द्वारा आत्मघात करके प्राण विसर्जन कर दिया।

प्रिय दिनेश का जन्म २९ अक्टूबर सन १९४० ई० को दीपावली के दिन उनके मामा के यहाँ मथुरा में हुआ था। अपने अनुपम सद्गुणों के कारण उन्हों ने अपने सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति पर मोहक प्रभाव डाला था और अपने परिवार तथा मिशन के प्रत्येक सदस्य को तो वह प्राणों के ही समान प्रिय थे। सुशीलता, उदारता, कर्त्तव्य-परायणता तथा अडिग आत्मविश्वास उन्हें वंश परम्परा से पित्रागत सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुए थे। उनका व्यक्तित्व कर्म प्रधान था। किन्तु उनके व्यक्तित्व को विशिष्टता प्रदान करने वाला गुण था—उनके रोम-रोम में उफनता हुआ अदम्य साहस और अनम्य उत्साह। कोई बात सही समझ में आ जाने पर उसकी प्राप्ति के लिए अग्रसर हुए दिनेश के चरणों को किसी प्रकार के मोह का बन्धन कभी रोक नहीं सका। कोई भी समस्या आ पड़ने पर उसको सुलझाने के प्रयास में दिनेश ने सदैव पहली बाज़ी अपने प्राणों की ही लगाई। इस अल्पायु में ही दो बार बाज़ार में दङ्गा होता देख कर तमाशाइयों की भीड़ चीर कर अपनी सुरक्षा की चिन्ता किये बिना आततायी गुण्डों का छुरा छीन कर दिनेश ने अपरिचित निहत्थों को प्राण-दान दिया। इतना साहस और उत्साह होते हुए भी उनमें जिद्दीपन और उद्दण्डता नाम मात्र को भी न थी। अपने आदरणीय गुरुजनों की आज्ञा पालन करने में अपनी बड़ी से बड़ी अभिलाषा और भावना को दबा देने की उनमें अद्वितीय क्षमता थी। दिनेश जैसे व्यक्ति के विषय में ही किसी महापुरुष का वाक्य है कि "ऐसे आधे दर्जन नर-शार्दूल साथ लेकर संसार में क्या नहीं किया जा सकता। किन्तु "जो ईश्वर को प्यारे हैं, वह संसार में अधिक दिन नहीं रहते।" नियति और पुरुषार्थ का यही चिरंतन संघर्ष है।

दिनेश के प्राणोत्सर्ग की अद्भुत कहानी संक्षेप में इस प्रकार है—

पिछले वर्ष हाई-स्कूल की परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने पर मुस्करा कर उन्होंने कहा-"मुझे दुःख नहीं, क्योंकि मैंने परीक्षा के लिए तनिक भी प्रयास नहीं किया था। किन्तु अगले वर्ष या तो घोड़ा खरीदना (विशिष्ट सफलता प्राप्त करना) है या इस शरीर का परित्याग।" बात आई गई हो गई। इस वर्ष अथक परिश्रम करके बड़े विश्वास के साथ उन्होंने परीक्षा दी। परीक्षाफल देखने भी बड़े उत्साह पूर्वक और इस विश्वास के साथ गये कि सेकेन्ड डिवीजन आयेगा। परीक्षाफल में अपना रोलनम्बर न होने की बात सुनकर स्वयं परीक्षा-फल देखा और केवल इतना कहा, "यह हुआ बहुत बुरा।" घर आने पर सभी ने समझाया और उन्होंने किसी विशेष प्रकार की चिन्ता या निश्चय का तनिक भी आभास नहीं दिया। मन की उद्विग्नता मुख पर मुसकान बन कर ही आई। रात बीती। दूसरे दिन दोपहर के समय जब सभी लोग यथास्थान आराम करने लगे तो एक बार सारे घर द्वार का चक्कर लगाकर छत पर अपने बड़े भाई के कमरे में एकान्त में खाट डालकर अंदर से दरवाज़े बन्द कर लिये। छोटे भाई सर्वेश ने एक बार जाकर पुकारा कि नीचे आकर पङ्खे के नीचे लेट रहें। उत्तर मिला—"कुछ आवश्यक काम कर रहा हूँ, थोड़ी देर में आ रहा हूँ।" दो पत्र लिखे जो अक्षरशः प्रकाशित किये जा रहे हैं। बन्दूक की दोनों नलियों में कारतूस भरे और खाट पर पायताने की ओर सिर करके इस बात का ध्यान रख कर कि कमरे के किसी सामान को क्षति न पहुँचे, यहां तक कि रक्त से चारपाई का पायताना मात्र भीगे, ठुड्डी और गले के बीच नलियाँ लगाकर बन्दूक की नाल सीने पर दोनों हाथों से दबा कर पैर से दोनों घोड़े (Triggars) झटक दिये। एक साथ ही दोनों फ़ायर हुए और निमिष मात्र में सब कुछ समाप्त हो गया। कुछ घन्टों बाद चिता की लपटों ने व्यक्तित्व की विशिष्टता (Particularity) को सामान्य (Universal) तत्वों में विभाजित कर दिया। जली हुई हड्डियां और राख ठीक वैसी ही रह गई जैसी किसी भी चिता पर पाई जाती हैं। दिनेश का जो अपना स्वरूप था, उसका कोई आभास उन हड्डियों और राख में परिलक्षित नहीं हो सका। वह तो ब्रह्मांड में निवास करने लगा। दिनेश के अंतिम पत्र यहां अक्षरशः दियेजारहे हैं:-

पत्र १

परम पूज्य पापा जी, शाहजहांपुर

सादर चरण स्पर्श। २०-६-५८

सेवा में,

आप का निकम्मा पुत्र दिनेश अपनी आत्महत्या करने से पहले यह प्रार्थना करता है कि आप अपने इस कुलहीन पुत्र की आत्मा की शान्ती के लिए कुछ कर दीजिए ताकि अपराधी पुत्र मोक्ष प्राप्त कर सके। आपके सिवा संसार में कोई भी नहीं कर सकता है। यह निकम्मा पुत्र शाँति के लिए भिक्षुक है। आपने तथा घर के सभी ने मेरे कारण बहुत क्लेश उठाये। संसार में ऐसे नालायक लड़कों से यदि कोई बाँझ हो तो अच्छा है। आपको मैं जानता हूँ कि बहुत दुःख होगा, हमारे सभी सम्बन्धियों को दुःख होगा। मैं इस संसार में दो साल फेल हो कर किसे मुंह दिखाऊं मैं अपने सभी सम्बन्धियों को चरणस्पर्श करता हूँ। मैं अपने सभी सतसंगियों को चरण स्पर्श करता हूँ। मैं सदैव अपने मिशन की प्रगति के लिए स्वर्ग या नर्क में प्रार्थना करता रहूँगा। सब सत्संगी मेरी आत्मा की शान्ति के लिए प्रार्थना करें ताकि मैं बन्धन मुक्त हो जाऊँ।

आपका सेवक

Sd दिनेशचन्द्र सक्सेना

Sd Dinesh Chandra

पत्र २ Shahjahanpur

20—6—58

आदरणीय सज्जनों,

सादर चरण स्पर्श।

सेवा में सविनय निवेदन यह है कि प्रार्थी फेल हो जाने के कारण आत्म हत्या करने के लिए सनद्ध है। यदि वह ऐसा कर डाले तो हमारे घर के पुरुषों तथा स्त्रियों को किसी भी प्रकार से तंग न किया जावे, न किसी भी प्रकार से लाइसेन्स पर हस्तक्षेप किया जावे यह प्रार्थी किसी घर वाले के कहे सुने जाने से नहीं कर रहा है। यदि इस केस में कोई मुहल्ले के किसी सज्जन की किसी भांति की न सुनी जाये क्योंकि इसमें किसी का भी रंच मात्र हाथ नहीं है। मैं अपने घर वालों तथा भाइयों का अहसान जन्म जन्मान्तर तक मानूंगा। कोई हमारे घर वालों को रंच-मात्र भी परेशान न करे। जो कोई भी तंग करे तो इस पत्र को पेश करके पूरी कार्य-वाही की जावे। अधिक क्या लिखूं। मेरे फेल होने की ग्लानि

यानी परेशानी होने के कारण समय कम ही है ।

Note:—हमारे घर के सभी लोग निर्दोष हैं इस कारण उन्हें तंग न किया जावे । यदि ऐसा न होगा तो इस दुनियाँ को शांति युग-युगान्तर तक न मिलेगी ।

एक प्रार्थी
Sd. Dinesh Chandra Saxena
20-6-58

पत्रों से दिनेश का अध्यात्म की ओर झुकाव और मिशन के प्रति अनुराग सुस्पष्ट ही है । आयु की प्रगति के साथ आने वाली बौद्धिक परिपक्वता अभी पूर्ण रूप से न आ पाने के कारण हमारी साधना-पद्धति को नियमित रूप से प्रारम्भ करने की उन्हें आज्ञा अभी नहीं मिली थी । किन्तु साधना प्रारम्भ करने की उनकी उत्कट अभिलाषा थी । बाल्यावस्था से ही मिशन की साधना विषयक चर्चा घंटों चुपचाप बैठकर सुनने की उन्हें आदत थी । उन्होंने प्रशिक्षण की आज्ञा प्राप्त एक श्रेष्ठ साधक से चुपके चुपके साधना प्रारम्भ करा देने के लिए भी कहा था । कई लोगों से उन्होंने यह भी कहा "मैं पूजा करूँ या न करूँ । मुझे मोक्ष तो प्राप्त होकर ही रहेगा ।" ऐसे होनहार बच्चे का उसकी बौद्धिक अपरिपक्वता के द्वारा इस प्रकार छिन जाना मिशन के लिए ऐसी क्षति है जिसकी पूर्ति कठिन है ।

किन्तु नियति के समक्ष किसी का कोई वश नहीं । परिस्थितियां भवितव्यता के ही अनुसार बन जाती हैं । श्रद्धेय बाबूजी को दुःख है कि उस दिन और उसके पहले की रात में पाँच-छः बार नियति का आभास मिलने पर भी उस ओर उनका ध्यान नहीं गया और कोई सावधानी नहीं बरती गई । इसको नियति की सर्वशक्तिमानता के अतिरिक्त और क्या कहा जाये ।

जो कुछ हो गया, वह तो अब हो चुका । हम सभी का कर्त्तव्य है कि प्रिय दिनेश की स्मृति को स्थायी रखकर उसकी अक्षय शान्ति और परम सद्गति के लिए प्रार्थना करें और उसकी बौद्धिक अपरिपक्वता के कारण घटित दुर्घटना के प्रति सहानुभूति पूर्ण अभिवृत्ति रखते हुये उससे शिक्षा ग्रहण करें । श्रद्धेय बाबूजी तो हमारे आदर्श हैं । हम सब तो इस विषय में भी पथ-प्रदर्शन के लिए बस उन्हीं की ओर देखते हैं । उनसे हम विशेष क्या कहें ।

ओ३म शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

'सहज-मार्ग' पत्रिका के नियम

—❀❀❀—

१—सहज मार्ग प्रति वर्ष चार बार चैत्र, अषाढ़, अश्विन, पौष अथवा मार्च, जून, सितम्बर, और दिसम्बर में प्रकाशित होता है ।

२—'सहज मार्ग' का मुख्य उद्देश्य आध्यात्मिक साधना पद्धति से सम्बन्धित गूढ़ रहस्यों का यथा सम्भव उपयुक्त प्रकाशन है ।

३—'सहज मार्ग' में प्रकाशनार्थ आने वाले लेखों, कविताओं, कहानियों आदि का विषय मुख्यतः आध्यात्मिक एवं सॉस्कृतिक होना चाहिए ।

४—लेखों, कहानियों, कविताओं आदि के घटाने बढ़ाने, छापने या न छापने का पूर्ण अधिकार सम्पादक को रहेगा । लेखों आदि में प्रकाशित मत का उत्तरदायित्व सम्पादक पर नहीं, किन्तु स्वयं लेखक पर होगा ।

५—प्रकाशनार्थ आने वाले लेख आदि देवनागरी अथवा अंग्रेजी लिपि में काग़ज़ के एक ओर शुद्ध एवं स्पष्ट रूप से लिखे या टाइप किये हुए होने चाहिए ।

६—'सहज मार्ग' में प्रकाशनार्थ लेख इत्यादि निम्नाँकित पते पर भेजे जाने चाहिए:—

सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव
गुप्ता भवन, महराजनगर,
लखीमपुर-खीरी उ० प्र०

७—'सहज-मार्ग' में श्री रामचन्द्र मिशन के अध्यक्ष की स्वीकृति प्राप्त विज्ञापन प्रकाशित हो सकते हैं । विज्ञापनों की दर निम्नलिखित हैं—

कवर व चौथा पृष्ठ पूरा	३०)	आधा १५)
अन्य साधारण पृष्ठ पूरा	२०,	आधा १०)
		चौथाई ६)

८—'सहज-मार्ग' का वार्षिक मूल्य ३) है, और एक प्रति का १)

श्री रामचन्द्र मिशन का प्रकाशित साहित्य

—:❀:—

		Price
1-Efficacy of Rajyoga by	*Shri Ramchandra Ji Shahjahanpur (U. P.)*	*Rs. 2-50 N.P.*
2-Reality at Dawn	*Do*	*1-50 N.P.*
३-सत्योदयम् (तमिल)	अनुवादक श्री अ० बालसुब्रह्मण्यम्	
(Reality at Dawn in Tamil translaion by A. Balasubramaniam)		1-50 N.P.
४-सहजमार्ग के दस उसूलों की शरह (उर्दू)	ले० श्री रामचन्द्र जी, शाहजहाँपुर (उ० प्र०)	मूल्य १-५० नये पैसे
५-अनन्त की ओर	,, ,,	प्रेस में
६-गुरु संदेश	,, ,,	२५ नये पैसे (अप्राप्य)
७-सहज समाधि	ले० कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी लखीमपुर-खीरी (उ०प्र०)	२५ नये पैसे (अप्राप्य)

मिलने का पता—सेक्रेटरी, श्री रामचन्द्र मिशन,
शाहजहाँपुर उत्तर प्रदेश (इन्डिया)

प्रेमराज प्रेस अस्पताल रोड लखीमपुर